सृष्टि निर्माण : प्राचीन एवं आधुनिक सन्दर्भ

आज की भांति ही अनादि काल से मानवीय मस्तिष्क में ये जिज्ञासाएँ उभरती रही है कि इस हरी-भरी वसुंधरा का निर्माण किस कलाकार द्वारा किया गया है? कौन है इस आकाश, ब्रह्माण्ड, ग्रहगण, नीहारिकाओं के स्रष्टा? कब से है इस प्राणी जगत् का अस्तित्व? ये सारे प्रश्न मानव मन को कभी-कभी उद्वेलित करते रहते हैं। भूगोल-खगोल शास्त्र से जुड़े अनेक वैज्ञानिक भी इन प्रश्नों से अछूते नहीं रहे। इनके समाधान प्राप्त करने हेतु बौद्धिक वर्ग अपने बुद्धिबल का प्रयोग करता रहा है तो अध्यात्म के गहन साधक ने अपनी अन्तर्प्रज्ञा से समाधान की खोज की है और वैज्ञानिकों ने तथ्यात्मक तर्कों-वितर्कों द्वारा अथवा आधुनिक उपकरणों के माध्यम से नए-नए तथ्य प्रस्तुत किए हैं। लेकिन विज्ञान द्वारा प्रस्तुत वे तथ्य वैज्ञानिकों के लिए अभी भी हाईपेथेसिस (कल्पना) के विषय बने हुए हैं अर्थात् वे निश्चयात्मक स्थिति में कहने जैसे नहीं हैं। आज भी सृष्टि के विषय में वैज्ञानिक-जगत् में अनेक अवधारणाएँ हैं, उनमें से तीन अवधारणाएँ अत्यधिक प्रचलित हैं –

1. बिग् बैंग (Big Bang),
2. एक्सपेनडिंग यूनिवर्स (Expanding Universe),
3. स्टेडी स्टेट (Steady State)।

1. बिग् बैंग (Big Bang) – यह वैज्ञानिक जगत् की सबसे प्रचलित अवधारणा है। इसके अनुसार यह पूरा ब्रह्माण्ड कोई समय एक Atom (परमाणु) जितना था। कुछ ऐसी रासायनिक प्रक्रिया स्वत: ही उसमें घटित हुई और एक बड़ा विस्फोट हुआ जो इस ब्रह्माण्ड के रूप में तब्दील हो गया। इस मान्यता को जनता के द्वारा भी अधिक महत्त्व मिला। इस अवधारणा को और ज्यादा पुष्ट करने के लिए सन् 2008 में यूरोप में धरती के गहन तल में एक बड़े विस्फोट द्वारा इस तथ्य का परीक्षण किया गया परन्तु वह पूर्णतया असफल रहा।

2. एक्सपेनडिंग यूनिवर्स (Expanding Universe) – प्रस्तुत अवधारणा भी खगोलशास्त्र में प्रचलित है। इसके अनुसार यह ब्रह्माण्ड गुब्बारे की तरह है। जिस तरह गुब्बारे में फूलने और सिकुड़ने की क्षमता है, उसी तरह यह ब्रह्माण्ड निरन्तर गुब्बारे की तरह फूलता जा रहा है और एक समय बाद यह पुन: सिकुड़ेगा और एक दिन यह नष्ट हो जाएगा। अभी भी अनेक परीक्षणों द्वारा इस मान्यता को पुष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है।

3. स्टेडी स्टेट (Steady State) – यह अवधारणा पहले वैज्ञानिकों के बीच इतनी प्रचलित नहीं थी परन्तु हाल ही में विश्व के महान् वैज्ञानिक 'स्टफीन हॉकिंग' द्वारा की गई कुछ उद्घोषणाओं ने न केवल वैज्ञानिक जगत् में अपितु दार्शनिक जगत् में भी हलचल पैदा कर दी और स्टेडी-स्टेट की अवधारणा को प्रमुख चर्चा का विषय भी बना डाला। इसका अर्थ है – यथास्थिति अर्थात् यह विश्व अनादि है और इसका अंत भी नहीं है। भले ही इसके पर्यायों में परिवर्तन होता रहे। इस अवधारणा के अनुसार यह विश्व ईश्वर द्वारा कृत नहीं है।

अनादि-अनंत विश्व की जो परिकल्पना अब विज्ञान द्वारा की जा रही है, इसका प्रतिपादन ढाई हजार वर्ष पूर्व श्रमण भगवान महावीर ने भी जैन आगमों में विश्व का सम्पूर्ण दर्शन प्राप्त होता है।

विश्व के आदि-बिन्दु की जिज्ञासा

श्रमण भगवान महावीर के 'आर्यरोह' नाम का शिष्य था। वह प्रकृति से भद्र, मृदु, विनीत और उपशांत था। उसके क्रोध, मान, माया और लोभ बहुत पतले हो चुके थे। वह मृदु-मार्दव सम्पन्न अनगार भवगान के पास

रहता। ध्यान, संयम और तपस्या से आत्मा को भावित किए हुए विहार करता। एक दिन की बात है कि वह भगवान के पास आया, वन्दना की, नमस्कार किया, पर्युपासना करते हुए बोला–'भन्ते! पहले लोक हुआ, फिर अलोक? अथवा पहले अलोक हुआ, फिर लोक?'

भगवान–'रोह! लोक और अलोक–ये दोनों पहले से हैं और आगे रहेंगे–अनादिकाल से हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। दोनों शाश्वत भाव हैं, अनानुपूर्वी हैं। इनमें पौर्वापर्य (पहले-पीछे का क्रम) नहीं है।'

रोह–'भंते! पहले अजीव हुए, फिर जीव? अथवा पहले जीव हुए, फिर अजीव?'

भगवान–'रोह! लोक-अलोक की भांति ये भी शाश्वत हैं, इसमें भी पौर्वापर्य नहीं है।'

रोह–'भन्ते! पहले भव्य हुए, फिर अभव्य? अथवा पहले अभव्य हुए, फिर भव्य?

भन्ते! पहले सिद्धि (मुक्ति) हुई, फिर असिद्धि (संसार)? अथवा पहले असिद्धि हुई, फिर सिद्धि?

भन्ते! पहले सिद्ध (मुक्त) हुए, फिर असिद्ध (संसारी)? अथवा पहले असिद्ध हुए, फिर सिद्ध?'

भगवान–'रोह! ये सभी शाश्वत भाव हैं।'

रोह–'भन्ते! पहले मुर्गी हुई, फिर अंडा हुआ? अथवा पहले अंडा हुआ, फिर मुर्गी?'

भगवान–'अण्डा किससे पैदा हुआ?'

रोह–'भन्ते! मुर्गी से।'

भगवान–'रोह! मुर्गी किससे पैदा हुई?'

रोह–'भन्ते! अण्डे से।'

भगवान–'इस प्रकार अण्डा और मुर्गी पहले भी हैं, पीछे भी हैं, दोनों शाश्वत भाव हैं, इनमें क्रम नहीं है।'

जगत् और ईश्वर

यह लोक शाश्वतभाव है। लोक को परिभाषित करते हुए बताया गया है कि ''षड्द्रव्यात्मको लोकः'' जहाँ छह द्रव्य हैं, वही लोक है अथवा जगत् है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, पुद्गल, जीव–ये पाँच अस्तिकाय और एक काल–ये छः द्रव्य हैं। इनका नाम जगत् हैं। छह द्रव्य हैं वे मूल अस्तित्ववान द्रव्य हैं। वे सभी शाश्वत भाव हैं। ये द्रव्य जितने पहले थे, उतने ही हैं, उतने ही रहेंगे। जीव और अजीव में से एक भी तत्त्व, एक भी अणु न नया जन्म लेता है और न पुराना नष्ट होता है। जितना था, उतना है और उतना ही रहेगा। इसके पर्याय अवश्य परिवर्तन होते हैं पर वे सभी अस्तित्ववान पदार्थ शाश्वत हैं। इसलिए इसका आदि-बिन्दु नहीं निकाला जा सकता। जिसका कोई आदि ही नहीं तो उसके कर्त्ता होने का प्रश्न स्वतः ही समाप्त हो जाता है। ईश्वरवादी दर्शन की मान्यता रही है कि यह विश्व ईश्वर द्वारा कृत है। उनके अनुसार जगत् का निर्माण ईश्वर द्वारा हुआ है। ईश्वर ने ही ये आकाश, चांद, तारे, जल, वयु, प्राणी जगत् आदि की रचना की है। पर जैन दर्शन ईश्वर के इस स्वरूप को स्वीकार नहीं करता है।

जैन दर्शन ईश्वरवादी भी है, अनीश्वरवादी भी है। जैन दर्शन परमात्मा को स्वीकार करता है। ऐसे शुद्ध आत्मा, जो कर्म मुक्त है, जिसके साथ शरीर का बंधन नहीं है–वह ईश्वर है। इस अर्थ में जैन दर्शन ईश्वरवादी है। किन्तु ईश्वर जगत् का कर्त्ता है, इसे जैन दर्शन स्वीकार नहीं करता। इस अर्थ में जैन दर्शन अनीश्वरवादी है। इस प्रकार जैन दर्शन ईश्वरवादी भी है और अनीश्वरवादी भी है।

विश्व और सृष्टि

विश्व और सृष्टि–ये दो शब्द हैं, अर्थ की दृष्टि से दोनों में भिन्नता भी है। विश्व अस्तित्व का एक समवाय है। जीव और अजीव–ये दो तत्त्व ही मूलत: अस्तित्ववान पदार्थ हैं। इन दो तत्त्वों से यह विश्व बना है। जीव और अजीव के संयोग से जो विस्तार हुआ है, वह सृष्टि है। सृष्टि में बदलाव आता है, वह बदलती रहती है, सारे परिवर्तन होते रहते हैं। आचार्य तुलसी ने जैन सिद्धान्त दीपिका में बहुत सुन्दर सूत्र लिखा है–'जीवपुद्गलयोर्विविध-संयोगै: स: विधिरूप:' जीव और पुद्गलों के संयोग से सृष्टि का निर्माण होता है। सृष्टि में केवल जीव और पुद्गल–दोनों का योग है, औरों की कोई जरूरत ही नहीं। इनके संयोग से ही अनेक रूप बन जाते हैं।

सापेक्ष दृष्टि से विचार किया जाए तो यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जगत् शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। अस्तित्व की दृष्टि से यह शाश्वत है, द्रव्यत: ये त्रैकालिक है। पर्याय परिवर्तन की अपेक्षा से जगत् अशाश्वत भी है, इसमें निरन्तर परिवर्तन घटित होते रहते हैं। यह शाश्वत और अशाश्वत दोनों का योग विश्व और सृष्टि की व्याख्या कर सकता है।

प्रस्तुति–मुनि योगेश कुमार

तीन लोक का विस्तार

विद्यार्थियों! आपके मन में यह जिज्ञासा होगी कि हम जिस लोक में रहते हैं, उस लोक का आकार, स्वरूप क्या है तथा उसका विस्तार कितना है, आदि-आदि।

अपकी जिज्ञासाओं को शांत करने के लिए हम इस पाठ में लोक के विस्तार के बारे में संक्षिप्त चर्चा कर रहे हैं।

यह लोक अनादिकाल से है। इसका कोई निर्माता नहीं है। लोक का आदि और अंत नहीं है। वह स्वाभाविक परिणति से परिणत है। लोक अपने पर्यायों से कृत है। वह जीव और अजीव द्रव्यों का समवाय है। लोक सम्पूर्ण आकाश का एक ही भाग है। लोक नित्य है, शाश्वत है, अविनाशी है।

लोक की परिभाषा

लोक शब्द लुक् धातु से बना है। लोक्येति इति लोक: अर्थात् आकाश के जिस भाग में धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—ये छ: द्रव्य होते हैं, उस भाग को लोक कहते हैं। आचार्य तुलसी ने जैन सिद्धान्त दीपिका में लोक की परिभाषा करते हुए लिखा है—षड्द्रव्यात्मको लोक: अर्थात् जो आकाश षड्द्रव्यात्मक होता है, उसे लोक कहते हैं और जहाँ केवल आकाश द्रव्य ही होता है, वह अलोक कहलाता है।

लोक का आकार

लोक सुप्रतिष्ठक आकार वाला है। तीन शराबों में से एक शराब (सिकोरा) ओंधा, दूसरा सीधा और तीसरा उसके ऊपर ओंधा रखने से जो आकार बनता है, उसे सुप्रतिष्ठक संस्थान या त्रिशराव-संपुट संस्थान कहा जाता है।

लोक नीचे विस्तृत है, मध्य में संकरा और ऊपर-ऊपर मृदंगाकार है। इसलिए उसका आकार ठीक त्रिशराव संपुट जैसा बनता है। अलोक का आकार बीच में पोल वाले गोले के समान है। अलोकाकाश एकाकार है। उसका कोई विभाग नहीं होता। लोकाकाश तीन भागों में विभक्त है—ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक। लोक चौदह रज्जू लम्बा है। उसमें ऊंचा लोक सात रज्जू से कुछ कम है। तिरछा लोक अठारह सौ योजन प्रमाण है। नीचा लोक सात रज्जू से अधिक है। लोक का घनफल विस्तार तीन सौ तैंयालीस (343) धन रज्जू है।

नीचे जहां सातवीं नरक है, वहां यह सात रज्जू चौड़ा है। वहाँ से क्रमश: घटता-घटता सात रज्जू ऊपर आने पर दोनों शरावों की संधि के स्थान में जहाँ मध्यलोक है, वहाँ एक रज्जू चौड़ा है। फिर क्रमश: बढ़ता-बढ़ता साढ़े तीन रज्जू ऊपर पहुंचने पर दूसरे-तीसरे शरावों के संधि-स्थल में जहाँ पाँचवां स्वर्ग है, वहाँ पांच रज्जू चौड़ा है। उसके बाद फिर क्रमश: घटता-घटता साढ़े तीन रज्जू ऊपर जाने पर जहाँ तीसरे शराव का अन्तिम भाग है अर्थात् सिद्धशिला है, वहाँ एक रज्जू चौड़ा है।

यह लोक त्रस-स्थावर जीवों से खचाखच भर हुआ है, लेकिन त्रस जीव तो मात्र त्रसनाड़ी के अन्दर है और स्थावर जीव त्रसनाड़ी-स्थावर नाड़ी दोनों में होते हैं।

लोकाकाश के तीनों विभागों की भिन्न-भिन्न आकृतियाँ बनती हैं। धर्म और अधर्म कहीं विस्तृत है और कहीं संकुचित। वे नीचे की ओर विस्तृत रूप से व्याप्त हैं अत: अधोलोक का आकार ओंधे किये हुए शराव जैसा बनता है। मध्यलोक में वे कृश रूप में हैं, इसलिए उसका आकार बिना किनारी वाली झालर के समान हो जाता है। ऊपर की ओर वे फिर कुछ-कुछ विस्तृत होते चले गए हैं, इसलिए उर्ध्व लोक का आकार उर्ध्वमुख मृदंग जैसा

होता है। अलोकाकाश में दूसरा कोई द्रव्य नहीं होता इसलिए उसकी कोई आकृति नहीं बनती। लोकाकाश की अधिक से अधिक मोटाई सात रज्जू की है।

सापेक्षवाद के आविष्कर्त्ता प्रो. आइन्स्टीन ने लोक का व्यास एक करोड़ अस्सी लाख प्रकाशवर्ष माना है। एक प्रकाश वर्ष उस दूरी को कहते हैं जो प्रकाश की किरण 1,86,000 मील प्रति सैकण्ड के हिसाब से एक वर्ष में तय करती है।

भगवान महावीर ने देवताओं की 'शीघ्र गति' की कल्पना से लोक की मोटाई को समझाया है, जैसे–छह देवता लोक का अन्त लेने के लिए शीघ्र गति से छहों दिशाओं–पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊंची और नीची में चले। ठीक उसी समय एक सेठ के घर में एक हजार वर्ष की आयु वाला एक पुत्र जन्मा.....उसकी आयु समाप्त हो गई। उसके बाद हजार वर्ष की आयु वाले उसके बेटे-पोते हुए। इस प्रकार सात पीढ़ियाँ बीत गईं। उनके नाम-गोत्र भी मिट गए, तब तक वे देवता चलते रहे, फिर भी लोक के अन्त तक नहीं पहुंचे। हाँ, वे चलते-चलते अधिक भाग पार कर गए। बाकी रहा वह भाग कम है–वे चले उसका असंख्यातवां भाग बाकी रहा है। जितना भाग चलना बाकी रहा है उससे असंख्यात गुणा भाग पार कर चुके हैं। यह लोक इतना बड़ा है।

लोक के चार प्रकार

स्कंदक परिव्राजक अपने मन में लोक के विषय में हुए संदेह को लेकर भगवान महावीर के चरणों में उपस्थित हुआ। उसे संबोधित करते हुए भगवान महावीर ने कहा–स्कंदक! तुमने ऐसा सोचा, विचारा, चाहा और यह मानसिक संकल्प उत्पन्न हुआ–लोक सांत है या अनंत?

स्कंदक उसका अर्थ इस प्रकार है–मैंने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से लोक का चार प्रकारों से प्रज्ञापन किया है।

द्रव्य की दृष्टि से लोक एक है, सांत है।

क्षेत्र की दृष्टि से लोक असंख्येय कोटा-कोटि योजन की लम्बाई-चौड़ाई वाला है। उसकी परिधि भी असंख्येय कोटा-कोटि योजन की है। उसका अंत है, वह सांत है।

काल की दृष्टि से लोक कभी नहीं था, कभी नहीं है और कभी नहीं होगा। वह ध्रुव, शाश्वत, नियत, अक्षय, अव्यय, अव्यवस्थित और नीत्य है। उसका अंत नहीं है, वह अनंत है।

भाव की दृष्टि से लोक अनन्त वर्ण पर्यव, अनंत गंध पर्यव, अनंत रस पर्यव, अनंत स्पर्श पर्यव, अनंत संस्थान पर्यव, अनंत गुरु-लघु पर्यव और अनंत अगुरु-लघु पर्यव से युक्त है। उसका अन्त नहीं है, वह अनंत है।

स्कंदक! इसलिए द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से लोक सांत है एवं काल व भाव की दृष्टि से अनंत है।

शाश्वत भाव

श्रमण भगवान महावीर का अंतेवासी शिष्य रोह नाम का अनगार। वह भगवान की उपासना में बैठा था। उसके मन में श्रद्धा-जिज्ञासा हुई और बद्धांजलि हो उसने पूछा–

भंते! पहले लोक और फिर अलोक बना अथवा पहले अलोक और फिर लोक बना?

रोह! लोक और अलोक पहले भी थे और आगे भी होंगे। ये दोनों शाश्वत भाव हैं। इनमें पहले-पीछे का कोई क्रम नहीं है।

लोक स्थिति के आठ नियम

गौतम ने श्रमण भगवान महावीर से प्रश्न किया–भंते! लोकस्थिति के कितने प्रकार प्रज्ञप्त हैं? गौतम! लोक स्थिति के आठ प्रकार प्रज्ञप्त हैं–

1. वायु आकाश पर टिकी हुई है।
2. समुद्र वायु पर टिका हुआ है।
3. पृथ्वी समुद्र पर टिकी हुई है।
4. त्रस-स्थावर प्राणी पृथ्वी पर टिके हुए हैं।
5. अजीव जीव पर प्रतिष्ठित हैं।
6. जीव कर्म प्रतिष्ठित हैं।
7. अजीव जीव द्वारा संग्रहीत हैं।
8. जीव कर्म द्वारा संग्रहीत हैं।

भंते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है कि लोकस्थिति के आठ प्रकार हैं?

गौतम! जैसे कोई पुरुष किसी मशक में हवा भरता है, उसमें हवा भरकर ऊपर (मुँह के स्थान पर) गांठ देता है। फिर मशक के मध्यभाग में गांठ लगाता है। गांठ लगाकर ऊपर की गांठ खोलता है। उसे खोलकर ऊपर के भाग की हवा बाहर निकाल देता है। उसे निकालकर ऊपर के भाग को जल से भरता है। उसे जल से भरकर ऊपर गांठ लगा देता है। वहां गांठ देकर फिर मध्यभाग की गांठ खोलता है। गौतम! क्या वह पानी उस वायु के ऊपर-ऊपर ठहरता है?

हाँ, ठहरता है।

गौतम! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है लोकस्थिति के आठ प्रकार हैं।

जैसे कोई पुरुष मशक में हवा भरता है, उसमें हवा भरकर उसे अपने कटि प्रदेश में बांधता है। बांधकर अथाह, अतर अथा अपौरुषेय जल में अवगाहन करता है।

गौतम! क्या वह पुरुष जल के ऊपर-ऊपर ठहरता है।

हाँ ठहरता है।

इस प्रकार लोकस्थिति के आठ प्रकार प्रज्ञप्त हैं।

लोक के तीन विभाग

इस चौदह रज्जु विस्तृत लोक के तीन भाग हैं, जिनको हम ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक के रूप में पहचानते हैं।

ऊर्ध्वलोक– लोक का ऊपरी भाग ऊर्ध्वलोक कहलाता है। ऊर्ध्वलोक कुछ कम सात रज्जु परिमाण है। ऊर्ध्वलोक में 12 देवलोक, 3 किल्विषी, 9 लोकांतिक, 9 ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमान आते हैं। उसके ऊपर सिद्धशिला है।

जम्बूद्वीप के मेरूपर्वत से डेढ़ रज्जू ऊपर दक्षिण दिशा में प्रथम देवलोक और उत्तर दिशा में दूसरा देवलोक है। तीसरा देवलोक पहले देवलोक के ऊपर और चौथा देवलोक दूसरे देवलोक के ऊपर हैं तीसरे-चौथे देवलोक

से आधा रज्जू ऊपर पाँचवा ब्रह्मदेवलोक है। लोकांतिक देव पाँचवे देवलोक के अंतराल में रहते हैं। प्रथम-द्वितीय देवलोक के नीचे प्रथम किल्विषि देव, तीसरे-चौथे देवलोक से नीचे दूसरी जाति के किल्विषि व पाँचवे देवलोक से ऊपर व छठे देवलोक से नीचे तीसरी जाति के किल्विषि देवों का निवास स्थान है।

ब्रह्म देवलोक से आधा रज्जू ऊपर छट्ठा लान्तक देवलोक, उससे पाव रज्जू ऊपर सातवां महाशुक्र देव लोक, उससे पाव रज्जू ऊपर आठवाँ सहस्रार कल्प देवलोक है। आठवें देवलोक से पाव रज्जू ऊपर बराबर नोवां आनत और दसवां प्राणत देवलोक व उनसे आधा रज्जू ऊपर बराबर ग्यारहवां आरण और बारहवाँ अच्युत देवलोक है।

ग्यारहवें, बारहवें देवलोक के एक रज्जू ऊपर नवग्रैवेयक देवता रहते हैं। जैन शास्त्रों में लोक को पुरुष के आकार का माना है। ये नौ देवलोक उस पुरुष की ग्रीवा-गले के स्थान में है, इसलिए इनका नाम ग्रैवेयक है।

ग्रैवेयकों से एक रज्जू ऊपर पाँच अनुत्तरविमान हैं। पूर्व में विजय, दक्षिण में वैजयन्त, पश्चिम में जयन्त, उत्तर में अपराजित और सबके बीचे में एक लाख योजन का सर्वार्थसिद्ध महाविमान है। देवलोकों के सब विमानों में श्रेष्ठ होने से ये अनुत्तर विमान कहलाते हैं।

सर्वार्थसिद्ध महाविमान से बारह योजन ऊँची ठीक मनुष्य लोक के ऊपर पैंतालीस लाख योजन की लम्बी चौड़ी, गोल और मध्य भाग में आठ योजन की मोटी एवं चारों तरफ से क्रमश: घटती-घटती किनारों पर मक्खी के पंख से भी पतली, अर्जुन सुवर्णमय छत्राकार एक शिला है, जिसे सिद्धशिला कहते हैं। सिद्धशिला के एक योजन ऊपर लोकान्त क्षेत्र है जिसे लोकाग्र भी कहा जाता है, वहाँ सिद्ध आत्माओं का निवास है, उसके ऊपर अलोक आकाश है।

2. मध्यलोक

जहाँ हम रहते हैं वह रत्नप्रभा-पृथ्वी की छत है। उसके मध्य में सुदर्शन नाम का मेरु पर्वत है। उसके ठीक बीच में गोस्तन के आकार के आठ रुचक प्रदेश हैं। वहाँ से नौ सौ योजन ऊपर और नौ सौ योजन नीचे ऐसे अठारह सौ योजन का मोटा एवं दस रज्जू-असंख्य योजन का लम्बा-चौड़ा मध्यलोक-तिरछा लोक है। उसमें जम्बू आदि असंख्य द्वीप और लवण आदि असंख्य समुद्र हैं। जम्बूद्वीप थाली के आकार का है और शेष द्वीप समुद्र वलय-चूड़ी जैसी आकृति वाले हैं। द्वीप समुद्र सब एक-दूसरे से दुगुने-दुगुने विस्तार वाले हैं। मध्य लोक का आकार झालर जैसा है।

जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड एवं अर्द्धपुष्कर द्वीप को ढ़ाई द्वीप कहते हैं। ढ़ाई द्वीप तथा लवण समुद्र के कुछ भाग में ही मनुष्यों का निवास है। इसी का नाम मनुष्य लोक एवं समय क्षेत्र है। मनुष्य लोक के बाहर जंघाचरण-विद्याचारण (लब्धिधारी) साधुओं के सिवाय कोई भी मनुष्य देवशक्ति के बिना नहीं जा सकते और जो जाते हैं वे भी वहाँ जन्म-मरण, खान-पान आदि क्रियाएँ नहीं कर सकते।

जम्बूद्वीप के ठीक मध्य भाग में (एक हजार योजन जमीन के अन्दर और निनानवे हजार योजन जमीन के ऊपर) एक लाख योजन का मेरुपर्वत है। जो तीनों लोकों का स्पर्श करता है, जिसका नाम सुदर्शन है।

ज्योतिष चक्र का समावेश भी मध्य लोक में होता है। जम्बूद्वीप के सुदर्शन मेरु के समीप की समतल भूमि से 790 योजन ऊपर तारामण्डल है। तारामण्डल से 10 योजन ऊपर सूर्यदेव का विमान है। सूर्यदेव के विमान से 80 योजन ऊपर चन्द्रमा का विमान है। चन्द्रविमान से 4 योजन ऊपर नक्षत्रमाला है। नक्षत्रमाला से 4 योजन ऊपर ग्रह माला है। ग्रहमाला से 4 योजन ऊपर मंगल बुध का तारा, इससे तीन योजन ऊपर शुक्र का तारा, इससे

तीन योजन ऊपर बृहस्पति का तारा, इससे तीन योजन ऊपर मंगल का तारा, इससे तीन योजन ऊपर शनि का तारा है।

इस प्रकार सम्पूर्ण ज्योतिष चक्र मध्य लोक में ही है और समतल भूमि से 790 योजन की ऊँचाई से प्रारम्भ होकर 900 योजन तक अर्थात् 110 योजन में स्थित है। ज्योतिषी देवों के विमान जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत में 1121 योजन चारों तरफ दूर घूमते हैं।

अढ़ाई द्वीप के ज्योतिष्क देव भ्रमण करते रहते हैं, अत: यहाँ दिन-रात्रि का भेद होता है परन्तु बाहर के ज्योतिष्क देव स्थिर रहते हैं, अतएव जहाँ रात्रि है वहाँ सदा रात्रि ही रहती है और जहाँ दिन है वहाँ दिन ही रहता है।

रत्नप्रभा भूमि के ऊपर एक हजार योजन का पृथ्वीपिण्ड है। उसमें से एक सौ योजन ऊपर और एक सौ योजन नीचे छोड़कर बीच में 800 योजन की पोलार है। इस पोलार में व्यंतर देवों के असंख्यात नगर है, जिसमें आठ प्रकार के व्यंतर देव रहते हैं। ऊपर के भाग में छोड़े गये सौ योजन में से दस योजन ऊपर और दस योजन नीचे छोड़कर बीच की अस्सी योजन की पोलार में भी आठ प्रकार के व्यंतर देवों के असंख्यात नगर है।

3. अधोलोक

मेरु पर्वत के समतल भूमि भाग के नीचे 900 योजन के बाद अधोलोक गिना जाता है और उसी अधोलोक में एक-दूसरे के नीचे सात नरक भूमियाँ हैं। इन सात नरक भूमियों में चौरासी लाख नरकावास हैं, जहाँ असंख्य नारक जीव अपनी करनी का फल भोगते हैं। सात नारकी के गोत्र व नाम क्रमश: इस प्रकार हैं—1. रत्नप्रभा, 2. शर्कराप्रभा, 3. बालुकाप्रभा, 4. पंक प्रभा, 5. धूम्रप्रभा, 6. तम:प्रभा, 7. महातम:प्रभा।

1. घमा, 2. वंशा, 3. शैला, 4. अंजना, 5. रिष्टा, 6. मघा, 7. माघवती।

नरक भूमियाँ सुदृढ़ आधार पर टिकी हुई होती हैं। सातों भूमियाँ—घनोदधि, घनवात, तनुवात के वलयों से आवेष्टित होती है और उसके नीचे आकाश होता है।

पहली पृथ्वी की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन, दूसरी की एक लाख बत्तीस हजार, तीसरी की एक लाख अट्ठाईस हजार, चौथी की एक लाख बीस हजार, पाँचवी की एक लाख अठारह हजार, छठी की एक लाख सोलह हजार और सातवीं की मोटाई एक लाख आठ हजार योजन की है। चौड़ाई पहली पृथ्वी की एक रज्जु यावत् बढ़ती-बढ़ती सातवीं पृथ्वी की सात रज्जु है।

सातों पृथ्वियों पर बयालीस अन्तर और उनचास प्रस्तर-पाथड़े में और चौरासी लाख नरकों वाले हैं। जैसे पहली पृथ्वी की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन की है, उसमें से एक-एक हजार योजन ऊपर-नीचे छोड़कर बीच के एक लाख अठहत्तर हजार योजन क्षेत्र में तेरह पाथड़े अर्थात् पृथ्वी पिण्डमय हैं और 12 अन्तर-रिक्त स्थान हैं यानि वह एक तेरह मंजिले मकान के आकार-सा है। पाथड़ों में नरकावास हैं। अन्तरों में पहले दो अन्तर तो खाली हैं और शेष दसों अन्तरों में दस हजार के भवनपति देवों का निवास है। अगली पृथ्वियों में पाथड़ों की संख्या क्रमश: ग्यारह, नौ, सात, पाँच, तीन, एक है एवं अन्तरों की संख्या, दस, आठ, छ:, चार, दो हैं। सातवीं पृथ्वी में अन्तर नहीं है। नरकावासों की संख्या सातों नरकों में क्रमश: इस प्रकार हैं—1. तीस लाख, 2. पच्चीस लाख, 3. पन्द्रह लाख, 4. दस लाख, 5. तीन लाख, 6. पाँच कम एक लाख, 7. पाँच।

पहली नरक का 'सीमान्तक' नाम का नरकावास पैंतालीस लाख योजन लम्बा-चौड़ा है और सातवीं नरक का 'अपइट्ठाण' नाम का नरकावास। एक लाख योजन लम्बा-चोड़ा है। शेष सब संख्यात तथा असंख्यात योजन

के लम्बे-चौड़े हैं। सबका तला वस्त्र के धुरे के समान तीक्ष्ण धार वाला है लेकिन आकार एक जैसा नहीं है, कुछ गोल है, कुछ त्रिकोण है, कुछ चतुष्कोण है, कुछ हाँडी के जैसे और कुछ लोहे के घड़े के समान है।

अधोलोक सात रज्जु से कुछ अधिक है तथा इसका आकार त्रिपाई जैसा है।

जैसे वृक्ष सभी ओर से त्वचा (छाल) से वेष्टित होता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण लोक तीन प्रकार के वलयों से वेष्टित है। पहला वलय घनोदधि (जमे हुए पानी), दूसरा वलय घनवात (जमी हुई हवा), तीसरा वलय तनुवात (हवा) का होता है। घर के मध्य में खड़े स्तम्भ की तरह लोक के मध्य में एक रज्जू चौड़ी और चौदह रज्जू ऊपर से नीचे तक लम्बी त्रसनाड़ी है, जिसमें त्रस-स्थावर जीव रहते हैं। अवशिष्ट लोक में सिर्फ स्थावर जीव ही होते हैं। लोक के चारों ओर अनन्त और असीम अलोकाकाश है। जहाँ आकाश द्रव्य के अतिरिक्त कोई द्रव्य नहीं है।

प्रस्तुति – मुनि जिनेश कुमार

अढाई द्वीप की परिक्रमा

जैन दर्शन के अनुसार लोक षड्द्रव्यात्मक है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय–ये चार द्रव्य लोक परिमाण हैं, आकाशास्तिकाय लोक-अलोक परिमाण है तथा काल द्रव्य अढाई द्वीप परिमाण हैं। इस अढाई द्वीप को समय क्षेत्र और मनुष्य क्षेत्र भी कहा जाता है। प्रश्न होता है कि इसे समय क्षेत्र क्यों कहा जाता है? इसके दो कारण हैं– 1. व्यावहारिक काल केवल अढाई द्वीप में ही पाया जाता है। 2. सूर्य और चन्द्रमा मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए घूमते हैं अत: उनकी गति अढाई द्वीप तक ही सीमित रह जाती है। समय क्षेत्र वह क्षेत्र है जहां समय, आवलिका, पक्ष, मास, ऋतु, अयन आदि का काल-विभाग परिज्ञात होता है। समय क्षेत्र के बाहर ऐसा काल-विभाग नहीं होता। समय क्षेत्र का दूसरा नाम मनुष्य क्षेत्र भी है। प्रश्न होता है कि इसे मनुष्य क्षेत्र क्यों कहा जाता है? जन्मत: मनुष्य केवल समय क्षेत्र में ही पाये जाते हैं। अढाई द्वीप 45 लाख योजन परिमाण हैं, जिसमें जम्बू द्वीप, घातकी खण्ड तथा अर्द्ध पुष्कर का समावेश है। जम्बू द्वीप के चारों ओर लवण समुद्र है जो क्षेत्र परिमाण में दुगुना है। इस तरह द्वीप और समुद्र क्रमश: दुगुने जानने चाहिए। जम्बू द्वीप समस्त द्वीप और समुद्र के मध्यवर्ती हैं तथा एक लाख योजन परिमाण विस्तृत हैं। लवण समुद्र दो लाख योजन परिमाण विस्तृत हैं। उसके चारों ओर घातकी खण्ड द्वीप है जो चार लाख योजन परिमाण विस्तृत है। इससे आगे कालोदधि है जो आठ लाख योजन परिमाण विस्तृत है तथा इससे आगे अर्द्ध पुष्कर द्वीप है जो आठ लाख योजन परिमाण विस्तृत है। इस तरह अढाई द्वीप 45 लाख योजन परिमाण है, यह उसका व्यास है तथा उसकी परिधि इससे कुछ अधिक तीन गुना है।

अढाई द्वीप के बाहर सामान्यत: मनुष्य नहीं पाये जाते हैं। कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज और छप्पन अन्तर्द्वीपज मनुष्य अढाई द्वीप में ही पाये जाते हैं। लब्धिधर मनुष्य कदाचित् अढाई द्वीप के बाहर जा सकते हैं।

अढाई द्वीप के सूर्य और चन्द्रमा गतिशील हैं अत: उनसे काल विभाग होता है। जम्बू द्वीप में दो लवण समुद्र में चार, घातकी खण्ड में बारह, कालोदधि में बयालिस और अर्द्ध पुष्कर में बहत्तर सूर्य चन्द्रमा होने से अढाई द्वीप में कुल 132 सूर्य तथा 132 चन्द्रमा हैं। अढाई द्वीप के बाहर स्थित सूर्य-चन्द्रमा असंख्य हैं, स्थिर है और मंद प्रकाशी हैं अत: वहां व्यावहारिक काल नहीं पाया जाता है।

स्थानांग सूत्र में चार चीजें समान बतलायी गयी हैं–(1) पहले नरक का एक नरकावास सीमन्तक नरक, (2) समय क्षेत्र, (3) सौधर्म कल्प के प्रथम प्रस्तर का एक विमान उडु विमान तथा (4) ईषत् प्राग्भारा पृथ्वी। ये सभी 45 लाख योजन परिमाण हैं।

अरिहन्त देव, आचार्य, उपाध्याय और मुनि प्रवर अढाई द्वीप में ही होते हैं अत: यहां चारों तीर्थ पाये जाते हैं। अरिहन्त देव जघन्य बीस और उत्कृष्ट एक सौ सत्तर होते हैं। वर्तमान में सारे अरिहन्त महाविदेह क्षेत्र में विचरण कर रहे हैं। केवली भी वही विचरण कर रहे हैं और उनकी संख्या जघन्य दो करोड़ है। केवली की उत्कृष्ट संख्या नौ करोड़ हो सकती है। मुनि महाविदेह के अलावा भरत और ऐरावत क्षेत्र में भी होते हैं और उनकी संख्या जघन्य दो हजार करोड़ और उत्कृष्ट नौ हजार करोड़ होती है। महाविदेह क्षेत्र में अर का परिवर्तन नहीं होता है अत: धर्म का विच्छेद नहीं होता है जबकि भरत और ऐरावत क्षेत्र में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के माध्यम से अर का परिवर्तन होता है। एक कालचक्र बीस करोड़ाकरोड़ सागरोपम का होता है और यह अनादिकालीन व्यवस्था है। अर परिवर्तन के माध्यम से धर्म युग और अधर्म युग दोनों आते हैं।

अढाई द्वीप में धर्माराधना करने वाले मनुष्य साधु बनकर सिद्ध हो जाते हैं। जो सिद्ध नहीं बनते हैं वे वैमानिक देव बन जाते हैं। इस सच्चाई को उत्तराध्ययन सूत्र में इस तरह निरूपित किया गया है–

अह जे संवुडे भिक्खू, दोण्हं अन्नयरे सिया।
सव्व दुक्खप्पहीणे वा, देवे वावि महड्ढिए॥

जो संवृत्त भिक्षु होता है वह दोनों में से एक होता है–सब दु:खों से मुक्त या महानऋद्धि वाला देव।

भरत और ऐरावत क्षेत्र के प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के शासनकाल में पांच महाव्रत रूप धर्म का प्रवर्तन होता है तथा शेष बाईस तीर्थंकरों के शासनकाल में एवं महाविदेह क्षेत्र में चातुर्याम धर्म का प्रवर्तन होता है। इसी तरह क्रमश: पांच चारित्र और तीन चारित्र पाये जाते हैं।

जितने जीव सिद्ध होते हैं वे सब अढाई द्वीप से ही होते हैं। अढाई द्वीप का सूई के अग्र भाग जितना स्थान भी ऐसा नहीं है जहां से जीव सिद्ध नहीं हुए हैं। अनन्त सिद्ध हो गये हैं, वर्तमान में (महाविदेह क्षेत्र से) हो रहे हैं तथा भविष्य में अनन्त सिद्ध होंगे।

काल द्रव्य अढाई द्वीप में ही है तथा वह वास्तविक द्रव्य नहीं है अत: लोक को पंचास्तिकायमय बताया गया है। काल के दो प्रकार हैं–व्यावहारिक काल और नैश्चियक काल। निश्चय काल सर्वत्र है, पर व्यावहारिक काल सिर्फ मनुष्य लोक में–अढाई द्वीप में है। अढाई द्वीप लोक में ही होने से लोक को षड्द्रव्यात्मक मानना युक्तिसंगत है।

मनुष्य श्रावक अढाई द्वीप में होते हैं किन्तु तिर्यञ्च श्रावक अढाई द्वीप में और अढाई द्वीप के बाहर भी होते हैं। व्रत की सम्पूर्ण आराधना के लिए अढाई द्वीप ही एकमात्र आधार है।

प्रस्तुति–मुनि मदनकुमार

पाँच इन्द्रियों के तेईस विषय

पाँच इन्द्रियों के तेइस विषय को जानने के लिए सर्वप्रथम इन्द्रिय की परिभाषा को जानना भी आवश्यक है। इन्द्रिय किसे कहते हैं–आत्मिक ऐश्वर्युक्त होने से आत्मा को इन्द्र कहते हैं। उस इन्द्र को, जिनके द्वारा अनुभूत किया जाता है, उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं अथवा जो अपने-अपने प्रतिनियत शब्दादि-विषयों का ज्ञान करती है, उनका नाम इन्द्रियाँ हैं। जैसे–कान केवल शब्द का, नेत्र रूप का, नाक गन्ध का, जीभ रस का और स्पर्शन इन्द्रिय स्पर्श का ज्ञान करती है, क्योंकि ये ही इनके निश्चित विषय हैं। इन पांच इन्द्रियों के तेइस विषय हैं।

श्रोत्रेन्द्रिय

श्रोत्र इन्द्रिय का विषय है–शब्द। शब्द क्या है? उसके कितने प्रकार हैं? उसका उपयेाग क्या है? आदि। शब्द क्या है? –जो बोला जाता है, जो ध्वनित होता है, वह शब्द है।

शब्द के कितने प्रकार–तीन प्रकार–जीव शब्द, अजीव शब्द, मिश्र शब्द।

जीव शब्द– जो शब्द–हृदय, कंठ, शिर, जिह्वामूल, दान्त, नासिका, होंठ और तालु–ये आठ स्थान ऐसे हैं, जहाँ से शब्द की उत्पत्ति होती है। इन आठों स्थानों का सीधा सम्बन्ध जीव से है। इसलिए इससे होने वाला शब्द जीव शब्द कहलाता है।

अजीव शब्द– पुद्गलों के संघर्षण से जो ध्वनि होती है, वह अजीव शब्द कहलाता है, जैसे–वीणा, झालर, लाल-कांस्य, खटपट करना, चुटकी बजाना, पांव पटकना आदि क्रियाओं से जो शब्द होता है, वह अजीव शब्द है।

मिश्र शब्द– हृदय, सिर, कण्ठ आदि आठ स्थानों और वाद्यों का योग होने पर जो शब्द निकलता है, वह मिश्र शब्द है।

शब्द का उपयोग– शब्द सार्थक भी होता है और निरर्थक भी होता है। निरर्थक शब्दों का कोई अर्थ नहीं और उपयेाग नहीं होता है। सार्थक शब्द चाहे वे शब्दात्मक हो या ध्वन्यात्मक, प्राणी जगत् की भावना को अभिव्यक्ति देते हैं। शब्द एक-दूसरे को समझने का माध्यम बन सकते हैं।

श्रोतेन्द्रिय अपने विषय के शब्द जघन्य आंगुल के असंख्यातवें भाग से उत्कृष्ट बारह योजन तक ग्रहण कर सकते हैं। शब्द में आसक्त होने से जीव मरकर बहरे या कर्ण रोगी अथवा मक्खी आदि बन सकते हैं।

चक्षुरिन्द्रिय– चक्षुइन्द्रिय का विषय है–वर्ण। वर्ण का अर्थ है–रंग। इसके पांच प्रकार हैं–कृष्ण-नील, रक्त, पीत एवं श्वेत।

इन रंगों के संयोग से अनेक नए रंगों का निर्माण हो सकता है। दुनियां में जितने दृश्य दिखाई देते हैं, उसमें पांचों रंग विद्यमान हैं लेकिन किसी एक रंग की प्रमुखता रहती है। उसके आधार पर हम काला, नीला आदि रंग कह देते हैं।

चक्षुरिन्द्रिय जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट साधिक लाख योजन दूर रहे हुए रूप को देख सकते हैं। रूप में आसक्त होने पर अंधे, काणे, कीड़ी आदि बन सकते हैं।

घ्राणेन्द्रिय– घ्राण इन्द्रिय का विषय है–गंध। वह दो प्रकार की है–सुगंध व दुर्गंध।

हम मनोज्ञ गंध को सुगंध और अमनोज्ञ को दुर्गंध कहते हैं। एक ही गन्ध किसी के लिए मनोज्ञ भी हो सकती है और अमनोज्ञ भी। चर्मकार चमड़े के जूते बनाता है। वह दिन-रात चमड़े के बीच रहता है। चमड़े की गंध उसे दुर्गंध नहीं लगती। लेकिन अन्य व्यक्ति वहां से गुजरता है तो उसे दुर्गंध असह्य हो जाती है।

घ्राणेन्द्रिय जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग से और उत्कृष्ट नौ योजन से आये हुए गंध का ज्ञान करती है।

गंध में आसक्त प्राणी नाक संबंधी रोग वाले या कृमि शंख आदि द्वीन्द्रिय बन सकते हैं।

रसनेन्द्रिय – रसनेन्द्रिय का विषय है – रस। रस के पांच प्रकार हैं – तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल और मधुर।

रसों का ग्रहण रसना (जिह्वा) करती है इसलिए इन्हें रसनेन्द्रिय के विषय रूप में स्वीकार किया गया है। सौंठ का स्वाद तिक्त होता है। नीम का रस कटु होता है। हरीतकी का रस कषैला होता है। इमली का रस खट्टा होता है। चीनी का स्वाद मधुर होता है। इनके मिश्रण से नए रसों की निष्पत्ति भी हो सकती है।

संसार में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति को छोड़कर सभी जीवों के रसनेन्द्रिय होती है।

रसनेन्द्रिय जघन्य आंगुल के असंख्यातवें भाग से उत्कृष्ट नो योजन दूर से आये हुए रस का ज्ञान करती है।

रसास्वादन में आसक्त प्राणी मरकर गूंगे, मूंगे, तुतले या एकेन्द्रिय जीव बन सकते हैं।

स्पर्शनेन्द्रिय – स्पर्शनेन्द्रिय का विषय है – स्पर्श। स्पर्श के आठ प्रकार हैं – शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, कर्कश, मृदु, गुरु और लघु।

इसमें प्रथम चार स्पर्श मूल के हैं। शेष चार स्पर्श सापेक्ष हैं। शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष स्पर्श की बहुलता और न्यूनता के आधार पर लघु-गुरु, मृदु और कर्कश स्पर्श बनते हैं। रूक्ष स्पर्श की बहुलता से लघु स्पर्श होता है। स्निग्ध स्पर्श की बहुलता से मृदु स्पर्श बनता है। रूक्ष और उष्ण स्पर्श की बहुलता से कर्कश स्पर्श बनता है।

स्पर्शनेन्द्रिय जघन्य आंगुल के असंख्यातवें भाग से उत्कृष्ट नो योजन से आये हुए स्पर्श का ज्ञान कर सकती है।

पांच इन्द्रियों के तेईस विषय और 240 विकार होते हैं। इन तेईस विषयों पर राग-द्वेष होता है, उसे विकार कहते हैं।

श्रोतेन्द्रिय के तीन विषय – जीव, अजीव, मिश्र – इन तीनों प्रकार के शब्द शुभ भी होते हैं और अशुभ भी होते हैं। 3×2=6 इन छहों भेदों पर राग-द्वेष भी होता है। 6×2=12 श्रोतेन्द्रिय के बारह विकार हैं।

चक्षुरिन्द्रिय के पांच विषय हैं – काला, नीला, लाल, पीला व सफेद। पाँचों रंग सचित-अचित और मिश्र ऐसे तीनों होते हैं। 5×3=15 पन्द्रह पर शुभ और अशुभ दोनों होते हैं। 15×2=30 इन तीस पर राग-द्वेष होने पर 30×2=60 यों चक्षु इन्द्रिय के आठ विकार होते हैं।

घ्राणेन्द्रिय के दो विषय होते हैं – सुगंध, दुर्गंध। से सचित-अचित व मिश्र होने पर 2×3=6 भेद, छहों पर राग-द्वेष होने पर 6×2=12 भेद घ्राणेन्द्रिय के बारह भेद होते हैं।

रसनेन्द्रिय के पांच विषय हैं – तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल, मधुर – इन पांचों पर सचित्त, अचित्त व मिश्र 5×3=15 इन पन्द्रह पर शुभ और अशुभ होने पर 15×2=30 इन तीसों पर राग-द्वेष होने पर 30×2=60 इस प्रकार रसनेन्द्रिय के 60 विकार होते हैं।

स्पर्शनेन्द्रिय के आठ विषय होते हैं – शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, कर्कश, मृदु, गुरु और लघु इन पर सचित्त-अचित्त-मिश्र होने पर 8×3=24 इन पर शुभ और अशुभ होने पर 24×2=48 इन चौबीस पर राग-द्वेष होने पर 48×2=96 विकार होते हैं। इन सबका योग –

श्रोतेन्द्रिय के बारह, चक्षु इन्द्रिय के साठ, घ्राण इन्द्रिय के बारह, रस इन्द्रिय के साठ और स्पर्श इन्द्रिय के छियानवे –

12+60+12+60+96=240 विकार।

प्रस्तुति – मुनि रजनीश कुमार

आठ आत्मा : एक विवेचन

जैन दर्शन आत्मवादी है तथा आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। प्रश्न हो सकता है—आत्मा शाश्वत है या अशाश्वत? आत्मा शाश्वत और अशाश्वत दोनों है। द्रव्य की अपेक्षा आत्मा शाश्वत है और भाव की अपेक्षा अशाश्वत। भगवती में जहां जीव के तेईस नाम बतलाये गये हैं वहां स्थानांग आदि सूत्रों में आठ आत्मा बतलायी गयी है। इन आठ आत्माओं के विवेचन को जानकर आत्म-स्वरूप का बोध किया जा सकता है। मूल आत्मा एक है और वह है द्रव्य आत्मा। शेष सात आत्मा पर्याय आत्मा है। आत्मा की अनंत पर्याय है अत: अनन्त भाव आत्मा हो सकती है। प्रधानता की दृष्टि से यहां आठ आत्मा की विवक्षा की गयी है। सात भाव आत्मा के अलावा भी आत्मा हो सकती है, इसे स्वीकार करना चाहिए तथा उन्हें अन्य आत्मा कहना चाहिए। आठ आत्मा ये हैं—

1. **द्रव्य आत्मा—** असंख्य प्रदेशात्मक चेतन तत्त्व।
2. **कषाय आत्मा—** राग-द्वेषात्मक उत्तप्त आत्म-परिणाम।
3. **योग आत्मा—** मन-वचन-काया की प्रवृत्ति।
4. **उपयोग आत्मा—** ज्ञान-दर्शनात्मक चेतना का व्यापार।
5. **ज्ञान आत्मा—** अवबोध करने वाली आत्मा।
6. **दर्शन आत्मा—** सम्यक् और मिथ्या श्रद्धा मूलक आत्म-परिमाण।
7. **चारित्र आत्मा—** कर्म निरोध करने वाला आत्म-परिमाण।
8. **वीर्य आत्मा—** शरीर के साहचर्य से होने वाला शक्ति मय आत्म परिणाम।

द्रव्य की अपेक्षा से सब आत्माएँ समान हैं। द्रव्य आत्मा शाश्वत है क्योंकि वह अपरिवर्तनीय है। वह असंख्य प्रदेशात्मक है और एक प्रदेश न घटता है और न बढ़ता है। जीव का कभी अजीव नहीं होता है अत: द्रव्य आत्मा शाश्वत है, ध्रौव्य है तथा उसका उत्पाद और व्यय नहीं होता है। यह द्रव्य आत्मा मूल है और इसके बिना पर्याय हो नहीं सकती है। जैन साहित्य में कहा है—

द्रव्यं पर्यायवियुत, पर्याया द्रव्यवर्जिता।
क्व कदा केन किं रूपा, दृष्टा मानेन केन वा॥

द्रव्य रहित पर्याय और पर्याय रहित द्रव्य को कहां, कब, किसके द्वारा तथा किस प्रमाण से जाना गया अर्थात् नहीं जाना गया।

द्रव्य आत्मा न उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। वह अनादि-अनन्त है। भाव आत्मा उत्पन्न भी होती है और नष्ट भी होती है। वह सादि-सान्त हो सकती है।

कषाय आत्मा शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। अभव्य जीवों की अपेक्षा वह शाश्वत है तथा मोक्षगामी भव्य जीवों की अपेक्षा वह अशाश्वत है। दसवें गुणस्थान तक कषाय आत्मा पायी जाती है तथा अन्तिम चार गुणस्थानों में कषाय आत्मा नहीं पायी जाती है। कोई जीव उपशम श्रेणी लेकर ग्यारहवें गुणस्थान में जाकर अकषायी बन जाते हैं और पुन: लौटकर सकषायी भी बन जाते हैं। ऐसे जीवों की अपेक्षा से कषाय आत्मा को सादि भी कहा जा सकता है। कषाय आत्मा से जीव के निरन्तर पाप लगता रहता है। कषाय आत्मा मोह कर्म

का औदयिक भाव होने से सावद्य है। कषाय की प्रवृत्ति का त्याग किया जा सकता है, कषाय का नहीं। कषाय का क्षय साधनाजन्य है। यही वीतरागता और सर्वज्ञता का मूलाधार है। कषाय के क्षय होने से ही सिद्धि प्राप्त होती है।

योग आत्मा भी शाश्वत और अशाश्वत दोनों है। योग शुभ और अशुभ दोनों प्रकार का होता है। शुभयोग तेरहवें गुणस्थान तक तथा अशुभ योग छठे गुणस्थान तक पाया जाता है। चौदहवें गुणस्थान और सिद्धों में योग आत्मा नहीं पायी जाती है। अशुभ योग का त्याग किया जा सकता है और उससे व्रत संवर निष्पन्न हो सकता है। शुभ योग का भी त्याग किया जाता है और उससे विशेष संवर की प्राप्ति होती है।

उपयोग आत्मा सभी जीवों में पायी जाती है। संसारी जीवों में बारह उपयोग पाये जाते हैं। वहां सिद्धों में केवल दो ही उपयोग पाये जाते हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में भी केवल दो ही उपयोग पाये जाते हैं। दस उपयोग क्षयोपशम निष्पन्न तथा केवलज्ञान और केवलदर्शन क्षय निष्पन्न होने से निरवद्य हैं तथा उज्ज्वलता की अपेक्षा से निरवद्य है, करनी की अपेक्षा से निरवद्य नहीं है।

ज्ञान आत्मा केवल सम्यक्त्वी जीवों में ही पायी जाती है। बारह गुणस्थानों (पहले और तीसरे गुणस्थान को छोड़कर) और सिद्धों में ज्ञान आत्मा पायी जाती है। वैसे ज्ञान आत्मा का समावेश उपयोग आत्मा में हो जाता है पर ज्ञान के माहात्म्य के कारण ज्ञान आत्मा को स्वतंत्र रूप से निरूपित किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है।

दर्शन आत्मा सभी जीवों में पायी जाती है। सम्यक्त्वी में सम्यक् दर्शन होता है और मिथ्यात्वी में मिथ्या दर्शन। पहले और तीसरे गुणस्थान में सम्यक् दर्शन नहीं पाया जाता है। सम्यक् दर्शन को मोक्ष का मूलाधार माना गया है। पहले गुणस्थान वाले जीव भव्य और अभव्य दोनों हो सकते हैं तथा शेष गुणस्थानों के जीव भव्य ही होते हैं।

चारित्र आत्मा दो प्रकार की होती है—देशत और सर्वत। देश चारित्र आत्मा पांचवे गुणस्थान में तथा सर्व चारित्र आत्मा छठे से चौदहवें गुणस्थान में पायी जाती है। सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर ही चारित्र आत्मा की प्राप्ति होती है। सम्यक्त्व में चारित्र की भजना होती है जबकि चारित्र में सम्यक्त्व की नियमा होती है। सम्यक्त्व और चारित्र की प्राप्ति युगपत् हो सकती है—सहभाव हो सकता है। सहभाव न होने पर पहले सम्यक्त्व होता है। सिद्ध भगवान में सम्यक्त्व पायी जाती है किन्तु चारित्र नहीं पाया जाता है। उनके चारित्र आत्मा कृतार्थ हो गयी है। चारित्र आत्मा कर्म निरोध करने वाली है, उन्हें इसकी आवश्यकता नहीं है।

वीर्य आत्मा सभी संसारी जीवों में पायी जाती है। वीर्य आत्मा क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव होने से निरवद्य है, उज्ज्वलता की दृष्टि से निरवद्य है। प्रथम चार गुणस्थानों में बाल वीर्य, पंचम गुणस्थान में बाल पंडित वीर्य तथा षष्ठ से चतुर्दश गुणस्थान में पंडित वीर्य पाया जाता है। सिद्ध भगवान में वीर्य आत्मा नहीं पायी जाती है।

सूक्ष्म, बादर, त्रस, स्थावर, पर्याप्त, अपर्याप्त, अव्रत, प्रमाद आदि जितनी आत्म-पर्याय हैं, उन्हें अन्य आत्मा कहा जा सकता है। आत्मा आठ ही है, ऐसा नहीं कहना चाहिए। आठ आत्मा के विवेचन से आत्म-स्वरूप को भली-भांति जाना जा सकता है। इन आठ आत्माओं में केवल चारित्र आत्मा ही वन्दनीय है। कषाय, अशुभ योग और मिथ्या-दर्शन आत्मा को निन्दनीय कहा जा सकता है तथा द्रव्य और कषाय आत्मा को छोड़कर शेष छः आत्माओं के गुणगान किये जा सकते हैं।

प्रस्तुति—मुनि मदनकुमार

देव, गुरु, धर्म

शाश्वत सुख की प्राप्ति तभी होती है जब प्राणी की अन्तर्आत्मा में सम्यक् दर्शन का दीपक प्रज्वलित होता है। उस सम्यक् दर्शन के अभाव में आत्म-विकास असंभव है।

उत्तराध्ययन बत्तीस आगमों में एक आगम है। उसमें 28वां अध्ययन ''मोक्ष मार्ग गति'' है। वहां बताया है–

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥

सम्यक् दर्शन के बिना सम्यक् ज्ञान नहीं होता। सम्यक् ज्ञान के बिना सम्यक् चारित्र नहीं होता। सम्यक् चारित्र के बिना मोक्ष नहीं मिलता। मोक्ष के बिना निर्वाण नहीं होता, शांति नहीं मिलती।

साधना का परिणाम है–मोक्ष। उसके मूल में है–सम्यक्दर्शन। जिनशासन में तीन प्रकार की आराधना मानी है, जिन्हें रत्नत्रयी भी कहते हैं। उमास्वाती कहते हैं–सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः–सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान व सम्यक् चारित्र–इन तीनों की समन्विति ही मोक्षमार्ग है। आगम की भाषा में कहें तो–तिविहा आराहणा पण्णत्ता–नाणाराहणा दंसणाराहणा चारित्ताराहणा–ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना व चारित्राराधना। तपाराधना और वीर्याराधना को मिलाने से यह पांच प्रकार की आराधना बन जाती है।

नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाई, तवेण परिसुज्झई॥

ज्ञान से भावों-पदार्थों को जाना जाता है। दर्शन से श्रद्धा उत्पन्न होती है। चरित्र के द्वारा आने वाले कर्मों को आत्मा में प्रवेश नहीं मिलता और तप आत्मा का शोधन कराता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में शक्ति का सम्यक् नियोजन करना ही वीर्याचार अथवा वीर्याराधना है।

सम्यक् दर्शन की पहचान के पांच लक्षण हैं– 1. शम, 2. संवेग, 3. निर्वेद, 4. अनुकम्पा, 5. आस्तिक्य।

1. शम– कषाय का सहज शमन अथवा मंदीकरण।

2. संवेग– मुमुक्षा भाव अथवा मोक्षगमन की इच्छा।

3. निर्वेद– संसार से विरक्ति का भाव।

4. अनुकम्पा– प्राणी मात्र के प्रति अहिंसा का भाव और

5. आस्तिक्य– आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व में आस्था। आत्मा है, कर्म है, पूर्वजन्म है, पुनर्जन्म है, मोक्ष है। सृष्टि अनादि अनन्त है, आदि विषयों में आस्था का पुष्ट होना। इन पांच लक्षणों से व्यक्ति स्वयं के सम्यक्दर्शन की खोज कर सकता है।

सम्यक्त्व अथवा सम्यक् दर्शन दो प्रकार से प्रकट होता है–निसर्ग और अधिगम से। निसर्ग अर्थात् मोहनीय कर्म की सात प्रकृति–अनन्तानुबन्धी–1. क्रोध, 2. मान, 3. माया, 4. लोभ तथा 5. सम्यक् मोहनीय, 6. मिथ्यात्व मोहनीय व 7. सम्यक् मिथ्यात्व मोहनीय (मिश्र मोहनीय) के विलय से सहज ही होने वाला सम्यक् दर्शन निसर्ग कहलाता है। मोहनीय कर्म की अठाईस प्रकृतियाँ होती हैं, जैसे–

दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ– 1. सम्यक् मोहनीय, 2. मिथ्यात्व मोहनीय, 3. सम्यक्-मिथ्यात्व मोहनीय।

चारित्र मोहनीय की सोलह प्रकृतियाँ–

अनंतानुबंधी– 4. क्रोध, 5. मान, 6. माया, 7. लोभ।

अप्रत्याख्यान– 8. क्रोध, 9. मान, 10. माया, 11. लोभ।

प्रत्याख्यान– 12. क्रोध, 13. मान, 14. माया, 15. लोभ।

संज्वलन– 16. क्रोध, 17. मान, 18. माया, 19. लोभ।

तथा नोकषाय की नौ प्रकृतियाँ– 20. हास्य, 21. रति, 22. अरति, 23. भय, 24. शोक, 25. जुगुप्सा, 26. स्त्री वेद, 27. पुरुष वेद और 28. नपुंसक वेद।

मोहकर्म का सम्बन्ध दर्शन व चारित्र से है। उपरोक्त अठाईस प्रकृतियों का सम्पूर्ण उपशम अथवा क्षय से वीतरागता प्राप्त होती है या कुछ प्रकृतियों का क्षय व कुछ प्रकृतियों के उपशम से वीतरागता प्राप्त होती है।

इन अठाईस प्रकृतियों के प्रारम्भ की क्रमश: सात प्रकृतियाँ सम्यक्त्व को बाधित करने वाली हैं। उन दर्शन मोह की तीन प्रकृतियाँ– 1. सम्यक् मोह, 2. मिथ्यात्व मोह, 3. मिश्र मोह तथा चारित्र मोह की चार प्रकृतियाँ– अनुन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि सात प्रकृतियों के उपशम (दबने) से उपशम सम्यक् दर्शन प्रकट होता है। इनके क्षय से क्षायिक सम्यक्दर्शन उत्पन्न होता है। इसी प्रकार इन प्रकृतियों के क्षयोपशम (हल्केपन) से क्षायोपशमिक सम्यक्दर्शन की उपलब्धि होती है।

सम्यक्दर्शन की उपलब्धि निसर्ग भी होती है और अधिगम से भी। अधिगम अर्थात् अर्हत् आचार्य आदि की प्रेरणा से मिलने वाली सम्यक्दर्शन की प्राप्ति।

सम्यक्दर्शन का यह स्वरूप निश्चय सम्यक्त्व के रूप में है। व्यावहारिक सम्यक् दर्शन के लिए देव, गुरु, धर्म के प्रति आस्थावान होना जरूरी है। देव कौन ? गुरु कौन ? व धर्म क्या ? इन प्रश्नों के समाधान में एक प्राकृत भाषा की गाथा जाननी चाहिए–

अरहंतो महदेवो जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं इय सम्मत्तं मए गहियं॥

देव–अर्हत् जिन। गुरु-शुद्ध साधु। जिन प्रज्ञप्त तत्त्व है, वह धर्म है। यह सम्यक्त्व मैंने ग्रहण किया है।

अर्हत्–तीर्थंकर को धर्मदेव कहा है। उनका स्वरूप पंचपद वन्दना के प्रथम पद में वर्णित है–

''परम अर्हता सम्पन्न, चार घनघाती कर्म का क्षय कर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र, अनन्तशक्ति और आठ प्रातिहार्य–इन बारह गुणों से सुशोभित, चौतीस अतिशय, पैंतीस वचनातिशय से युक्त, धर्म तीर्थ के प्रवर्तक।'' यह अर्हत् का स्वरूप है। सरलता से इस विषय में यह कहा जा सकता है कि जो केवलज्ञानी बनने के बाद चार तीर्थ (साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका) की स्थापना करते हैं, वे तीर्थंकर कहलाते हैं।

यावज्जीवन के लिए शुद्ध साधु को गुरु के रूप में स्वीकार किया है। प्रश्न पूछा गया–इस लोक में बहुत सारे साधु न होते हुए भी साधु कहलाते हैं। क्या उन्हें हम साधु कहें ?

गुरु ने कहा–असाधु को साधु मत कहो। साधु को साधु कहो।

शिष्य–साधु कौन होता है ?

गुरु–नाणदंसणसंपन्नं संजमे य तवे रयं।

एवं गुणसमाउत्तं संजयं साहुमालवे॥

ज्ञान, दर्शन से सम्पन्न, संयम और तप में रत इन गुणों से युक्त संयति को साधु कहना चाहिए।

धर्म–आत्मशुद्धिसाधनं धर्मः। जो आत्मशुद्धि का साधन है, वह धर्म है। धर्म के दो प्रकार हैं–संवर व निर्जरा। संवर से कर्म का आगमन रुकता है तथा निर्जरा से आत्म-विशुद्धि (आंशिक शुद्धि) होती है। ये दोनों धर्म हैं। सीधी भाषा में यह कहा जा सकता है–जिनेश्वर देव की आज्ञा में धर्म है और उनकी आज्ञा के बाहर अधर्म है। धर्म के विषय में दसवेआलियं आगम की प्रथम गाथा (श्लोक) में कहा गया है–

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।

अहिंसा, संयम व तपरूपी धर्म उत्कृष्ट मंगल है।

देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो।

जिसका मन सदा धर्म में लगा रहता है, उसको (लौकिक दृष्टि से पूजनीय) देवता भी नमस्कार करते हैं।

देव, गुरु व धर्म की पहचान होने के बाद उनके प्रति अटूट श्रद्धावान होना सम्यक्दृष्टि होने का व्यावहारिक तरीका है।

प्रश्न हो सकता है–क्या व्यावहारिक सम्यक्दृष्टि होने से वस्तुतः सम्यक्दर्शन आ जाता है?

इसके समाधान के लिए यह कहना उपयुक्त होगा कि निश्चय तो केवलज्ञानी ही जानते हैं। पर व्यवहार में सम्यक्दृष्टि होना भी बहुत बड़ी उपलब्धि है। इसके होने पर उसे व्यवहार में वस्तुतः सम्यक्दृष्टि कहा जा सकता है।

जिनशासन का प्रतिनिधित्व करने वाला एक धर्मसंघ है–तेरापंथ। तेरापंथ की पहचान करने के लिए एक घोष है–

तेरापथ की क्या पहचान।
एक गुरु और एक विधान॥

गुरु धारणा कराते वक्त वर्तमान आचार्य के नाम से गुरु-धारणा कराई जाती है। आस्था को पुष्ट करने वाली शब्दावली भी निर्धारित है। वैसे तो संसार के सारे ही शुद्ध साधु गुरु हैं पर तेरापंथी बनने के लिए या तेरापंथी रहने के लिए वर्तमान आचार्य को ही गुरु रूप में स्वीकार किया जाता है।

शब्दावली इस प्रकार है–

हमारे धर्मदेवता–अरिहंत भगवान महावीर स्वामी हैं।

हमारे धर्मगुरु–परमपूज्य आचार्यश्री महाश्रमण हैं।

हमारा धर्म–जैन धर्म तेरापंथ है।

इस शब्दावली के साथ कुछ संकल्प भी कराए जाते हैं, जैसे–

* देव, गुरु, धर्म के प्रति पक्की श्रद्धा रखना।
* मदिरा, मांस, अण्डा तथा नशीली वस्तुओं का सेवन नहीं करना।
* आत्महत्या नहीं करना, दूसरों की हतया नहीं करना, भ्रूण हतया नहीं करना।

❊ हरे-भरे बड़े वृक्ष को जड़ से नहीं काटना।

❊ नमस्कार महामंत्र का प्रतिदिन (एक माला आदि) जाप करना।

❊ संवत्सरी का उपवास करना आदि।

❊ देव, गुरु व धर्म का स्वीकरण सुरक्षा कवच है। अपने सम्यक् दर्शन को पुष्ट बनाने के लिए चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स का पाठ) करें। जहां कहीं भी हो सुबह और सायंकाल अपने स्थान पर पंचांग प्रणतिपूर्वक गुरुदेव को वन्दना करें तथा मैं जैनी हूँ, तेरापंथी हूँ, इसकी सतत स्मृति रखें। गुरु का नाम कभी नहीं भूलें।

सम्यक्दर्शन ही आत्मा का शृंगार है।

संघ संघपति का ही सच्चा आधार है।

जिनशासन में भिक्षुशासन पाया, यह सौभाग्य है हमारा।

देव, गुरु, धर्म की शरण ही करती बेड़ा पार है।

प्रस्तुति – मुनि दिनेश कुमार

पांच चारित्र : एक विवेचन

चारित्र श्रेष्ठ तत्त्व है और वह मोक्ष प्राप्ति का मूलाधार है। सभी अर्हतों और सिद्धों ने इसे स्वीकार किया है। पंच परमेष्ठी का प्राण तत्त्व चारित्र ही है और इसीलिए वे वन्दनीय होते हैं। केवल चारित्र आत्मा को ही वन्दनीय माना गया है। चारित्र के बिना सम्पूर्ण कर्म क्षय संभव नहीं है। सिद्धों में चारित्र आत्मा नहीं पायी जाती है किन्तु चारित्रिक निर्मलता अवश्य पायी जाती है, जिसे आत्म रमण के नाम से जाना जाता है।

चारित्र तत्त्व को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भान और गुण से जानना चाहिए। द्रव्य से संख्यात क्षेत्र से जीवाश्रित, काल से सादि सान्त, भाव से अरूपी और गुण से कर्म निरोधक कहा जा सकता है। चारित्र अनुत्तर धर्म है और उसका निरूपण सभी तीर्थंकरों ने किया है। चारित्र के पाँच प्रकार हैं–सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात।

सामायिक चारित्र–सर्व सावद्य योग का त्याग करना सामायिक चारित्र है। यह तीन करण और तीन येाग से जीवन पर्यन्त के लिए किया जाता है। छेदोपस्थापनीय आदि चारित्र इसी के विशेष रूप हैं। बाईस तीर्थंकरो ने सामायिक चारित्र का उपदेश दिया था। छेदोपस्थापनीय का उपदेश भगवान ऋषभ और भगवान महावीर ने दिया था। महाविदेह क्षेत्र के सभी तीर्थंकर सामायिक चारित्र का ही उपदेश देते हैं। महाविदेह क्षेत्र में छेदोपस्थापनीय और परिहार विशुद्धि चारित्र नहीं पाये जाते हैं।

सामायिक चारित्र दो प्रकार का होता है– 1. इत्वर-भगवान ऋषभ और भगवान महावीर के शिष्यों के यह इत्वर-अल्पकाल के लिये होता है। इसकी स्थिति सात दिन, चार मास या छह मास है। तत्पश्चात् इसके स्थान पर छेदोपस्थापनीय चारित्र स्वीकार किया जाता है।

2. छेदोपस्थापनीय चारित्र–पूर्व पर्याय–सामायिक चारित्र का छेद कर महाव्रतों में उपस्थित करने को छेदोपस्थापनीय कहा जाता है। सामायिक चारित्र स्वीकार करते समय सर्व सावद्य योग का त्याग किया जाता है, सावद्य योग का विभागश: त्याग नहीं किया जाता। छेदोपस्थापनीय में विभागश: त्याग किया जाता है। पाँच महाव्रतों का पृथक्-पृथक् त्याग किया जाता है, इसलिए आचार्य वीरनन्दी ने छेद का अर्थ भेद या विभाग किया है। छेदोपस्थापनीय चारित्र दो प्रकार का होता है–(1) साविचार–दोष सेवन करने वाले मुनि को पुन: महाव्रतों का आरोपण कराया जाता है, वह साविचार छेदोपस्थापनीय होता है। (2) निरतिचार–शैक्ष मुनि सामायिक चारित्र के पश्चात् अथवा एक तीर्थंकर के तीर्थ से दूसरे तीर्थंकर के तीर्थ में दीक्षित होने वाले मुनि, जो छेदोपस्थापनीय चारित्र स्वीकार करते हैं, वह निरतिचार होता है।

3. परिहार विशुद्धि चारित्र– इसकी आराधना नौ साधु मिलकर करते हैं। इसका कालमान अठारह मास का है। प्रथम छ: माहों में चार साधु तपस्या करते हैं, चार साधु सेवा करते हैं और एक वाचनाचार्य (गुरु स्थानीय) रहता है। दूसरी छठ माही में तपस्या करने वाले सेवा और सेवा करने वाले तपस्या में संलग्न हो जाते हैं। तीसरी छह माही में वाचनाचार्य तप करते हैं, एक साधु वाचनाचार्य हो जाता है तथा शेष सात साधु सेवा में संलग्न होते हैं। जो तपस्या में संलग्न होते हैं, वे निर्विशमानक और जो कर चुकते हैं वे निर्विष्ट कायिक कहलाते हैं। उनकी तपस्या का क्रम इस प्रकार है–

1. ग्रीष्म काल में जघन्य उपवास, मध्यम बेला, उत्कृष्ट तेला
2. शिशिर काल में जघन्य बेला, मध्यम तेला, उत्कृष्ट चौला
3. वर्षा काल में जघन्य तेला, मध्म चौला, उत्कृष्ट पंचौला।

पारणा में आयंबिल तप किया जाता है। जो तप में संलग्न नहीं होते, वे सदा आयंबिल तप करते हैं। परिहार का अर्थ तप है। तप से विशेष शुद्धि प्राप्त की जाती है। यह परिहार विशुद्ध चारित्र भरत और ऐरावत क्षेत्र में प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के शासनकाल में ही होता है तथा यह तप प्रयोग तीर्थंकरों के द्वारा या तीर्थंकरों द्वारा स्वीकृत परहार विशुद्ध संयतों के द्वारा ही ग्रहण किया जाता है। इस प्रयोग के पूर्ण होने पर पुन: संघ में लौट आते हैं अथवा पुन: इसकी प्रयोग को प्रारम्भ कर देते हैं।

4. सूक्ष्म संपराय चारित्र – यह दसवें गुणस्थान का चारित्र है। सामायिक या छेदोपस्थापनीय चारित्र की आराधना करते-करते क्रोध, मान और माया के अणु उपशान्त या क्षीण हो जाते हैं, लोभाणुओं का सूक्ष्म रूप में वेदन होता है, उस समय की चारित्र स्थिति को सूक्ष्म संपराय चारित्र कहा जाता है। इस चारित्र का कालमान अत्यल्प होता है अत: इसमें अनाकार उपयोग नहीं पाया जाता है। इसमें जघन्य दो ज्ञान और उत्कृष्ट चार ज्ञान पाये जाते हैं। एक भाव-उपशम भाव उपशम श्रेणी लेने पर नियमत: पाया जाता है। उपशम श्रेणी एक भव में अधिकतम दो बार आ सकती है अत: एक भव में सूक्ष्म संपराय चारित्र अधिकतम चार बार आ सकता है। चरम शरीरी जीव क्षपक श्रेणी ही लेते हैं और उन्हें यह चारित्र एक बार ही आता है।

5. यथाख्यात चारित्र – यह वीतराग चारित्र है। जब क्रोध, मान, माया और लोभ सर्वथा उपशान्त या क्षीण हो जाते हैं, उस समय की चारित्र स्थिति को यथाख्यात चारित्र कहा जाता है। यह चारित्र औपशमिक और क्षायिक दोनों प्रकार का होता है। ग्यारहवें गुणस्थान का चारित्र औपशमिक यथाख्यात चारित्र तथा बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान का चारित्र क्षायिक यथाख्यात चारित्र कहलाता है। यथाख्यात चारित्र में अकषाय संवर पाया जाता है तथा चौदहवें गुणस्थान में अयोग संवर भी पाया जाता है तथा चौदहवें गुणस्थान में अयोग संवर भी पाया जाता है। यथाख्यात चारित्र में कषाय को छोड़कर सात आत्मा पायी जाती है तथा चौदहवें गुणस्थान में कषाय और योग को छोड़कर छ: आत्मा पायी जाती है।

प्रथम चार चारित्र और औपशमिक यथाख्यात चारित्र वाले आयुष्य पूर्ण कर वैमानिक देव बनते हैं तथा क्षायिक यथाख्यात चारित्र वाले सिद्ध बनते हैं।

प्रस्तुति – मुनि मदनकुमार

विकास का दिग्दर्शन : गुणस्थान

✻ पांच आश्रव व मोहनीय कर्म की प्रबलता व निर्बलता पर जीव की चौदह अवस्थाओं का निर्माण होता है। मलिनता को दूर कर आत्म-विशुद्धि के पथ को प्रशस्त किया जाता है। इसी आत्म-विशुद्धि को गुणस्थान कहा जाता है।

✻ आत्मा की निर्मलता से गुणस्थान क्रमश: ऊँचे व मलिनता से क्रमश: नीचे होते हैं।

✻ आत्मिक गुणों के अल्पतम विकास से लेकर सम्पूर्ण विकास तक की समस्त भूमिकाओं को चौदह भागों में बांटा गया है। ये चौदह भाग ही चौदह गुणस्थान हैं।

✻ पहला व तीसरा गुणस्थान मिथ्यात्वी (विपरीत श्रद्धा वाले) में होता है।

✻ दूसरा गुणस्थान सम्यक्त्व का होते हुए भी पतनोन्मुख गति का अंतिम मुकाम है।

✻ चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व का आलोक फैल जाता है पर व्रत की चेतना का जागरण नहीं हो पाता। इन चार गुणस्थानों को अव्रती, असंयति, बालवीर्य कहा गया है।

✻ पांचवां गुणस्थान श्रावक का है। इसे व्रताव्रती, संयतासंयति, धर्माधर्मी एवं बाल पंडित भी कहते हैं।

✻ छठा व सातवां गुणस्थान साधु का है। वैसे आगे के सारे गुणस्थान संयति, धर्मी, व्रती व पंडित हैं, पर छठा व सातवां प्रलंब काल तक रहता है।

✻ आठवें से बारहवें गुणस्थान तक के प्रत्येक गुणस्थान का कालमान बहुत स्वल्प-अंतर्मुहूर्त्त का है। इसमें उपशम व क्षपक श्रेणी का क्रम बनता है। मोह कर्म का उपशम-उपशम श्रेणी में जबकि क्षय-क्षपक श्रेणी में होता है।

✻ उपशमन करने वाले को नियमत: ग्यारहवें गुणस्थान से नीचे आना पड़ता है जबकि क्षय करने वाला क्रमश: ग्यारहवें को छोड़कर अनिवार्यत: बारहवें गुणस्थान में मोह को सर्वथा विनष्ट कर देता है।

✻ तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञानी हो जाता है। चौदहवें गुणस्थान में अयोग अवस्था आ जाती है। केवली सर्वज्ञ व सर्वदर्शी होता है।

✻ चौदहवें गुणस्थान के बाद आत्मा सर्वथा कर्ममुक्त होकर सिद्धत्व को प्राप्त कर लेती है।

✻ आत्म-विशुद्धि के आधार पर निर्मित यह गुणस्थान सिद्धान्त जैनदर्शन का एक अपूर्व सिद्धान्त है।

विकास का दिग्दर्शन : गुणस्थान

'आश्रवो भवहेतु: स्यात्' संसार परिभ्रमण में आश्रव हेतु होता है। वह इसलिए कि आत्मा में मलिनता है। यह मलिनता ही आश्रव है। जब श्रद्धा आवृत्त होकर बुद्धि विपरीतगामी हो जाती है तो वह मलिनता मिथ्यात्व बन जाती है। दूसरे अविरति आश्रव में खुलावट बनी रहती है। तीसरे प्रमाद आश्रव में आत्म-उत्साह भंग हो जाता है। चौथे कषाय आश्रव में आत्मा उत्तप्त रहती है। पांचवें योग आश्रव से आत्मा चंचल बनती है। आत्मा की यह पांच प्रकार की मलिनता आश्रव है। इन आश्रवों एवं मोहनीय कर्म की प्रबलता व निर्बलता पर जीव की चौदह अवस्थाओं का निर्माण होता है। जितना मालिन्य हटता है उतना आत्म-विशुद्धि का पथ प्रशस्त होता है। इसी विशुद्धि को गुणस्थान कहा जाता है। आत्मिक गुणों के अल्पतम विकास से लेकर सम्पूर्ण विकास तक की समस्त भूमिकाओं को जैन दर्शन में चौदह भागों में बांटा गया है। आत्मा की निर्मलता से गुणस्थान क्रमश: ऊँचे व मलिनता से क्रमश: नीचे होते हैं। गुणस्थान चौदह हैं–

1. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान – जिसकी तत्त्वश्रद्धा विपरीत होती है, वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है। उसके गुणस्थान को मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहा गया है। उसमें तत्त्व की अभिरुचि नहीं होती, विपरीत बुद्धि बनी रहती है। ऐसे व्यक्ति में जो यथार्थ ज्ञान या यथार्थ आचरण होता है, समता होती है, उससे वह गुणस्थान का अधिकारी बनता है। मिथ्या दृष्टि में जो यथार्थ ज्ञान या सम्यक् आचरण होता है, वह उसका गुणस्थान है। जो-जो वस्तुएँ जिस रूप में हैं, वह उनको वैसे ही जानता है, जैसे गाय को गाय, भैंस को भैंस जानता है। वह उसका जानना ठीक है पर तत्त्व-अभिरुचि के अभाव में वह मिथ्यात्वी कहलाता है। मिथ्यात्वी का समस्त आचरण गलत नहीं होता। उसमें आचरण सम्यक् भी होता है।

प्रथम गुणस्थान में जीव अनंत काल तक रह सकते हैं। अभव्य (मोक्ष कभी भी न जाने वाले) जीवों के लिए अनादि-अनंत है। अभवी जीवों के लिए अनादि-सांत है। अप्रतिपाती सम्यग् दृष्टि (एक बार सम्यक्त्व प्राप्त कर पुन: मिथ्यात्वी बनने वाला) सादि-सांत (आदि-अंत सहित) है। मोक्ष में नहीं जाने वाले जीवों का यही अक्षय भंडार है।

2. सास्वादन सम्यक् दृष्टि गुणस्थान – सम्यक् दृष्टि का जहां आस्वाद मात्र होता है, उस व्यक्ति के गुणस्थान को सास्वादन सम्यक् दृष्टि कहते हैं। यह आध्यात्मिक विकास की नहीं आध्यात्मिक विकास के पतन की अवस्था है। इस गुणस्थान का कालमान छह आवलिका है।

उपशम सम्यक्त्व से च्युत होकर (गिरता हुआ) सम्यक् दृष्टि जब तक पहले गुणस्थान तक नहीं पहुंच पाता तब तक की उस अवस्था का नाम सास्वादन सम्यग् दृष्टि है।

3. मिश्र गुणस्थान – यह संदेह सहित अस्थिर अवस्था है। इसमें विचारधारा निश्चित नहीं होती तथा तत्त्व के सम्यक् या असम्यक् होने के सन्दर्भ में दृष्टि संदेहशील बन जाती है। पहला व तीसरा मिथ्यात्व अवस्था का है। फर्क यह है कि पहले में दृष्टि स्पष्टत: मिथ्या रूप होती है जबकि तीसरे में संदिग्ध रहती है। यह अवस्था उत्कर्ष व अपकर्ष – दोनों अवस्थाओं में होती है। उत्कर्ष अवस्था में प्रथम से व अपकर्ष अवस्था में चौथे से तीसरे में चली जाती है। इसका कालमान अन्तर्मुहूर्त्त है।

4. अविरत सम्यग् दृष्टि – यह व्रत रहित सम्यग् दर्शन की अवस्था है। जिसे सम्यग् दृष्टि प्राप्त हो गई पर किसी प्रकार का व्रत नहीं हो, उस व्यक्ति के गुणस्थान को अविरत सम्यग् दृष्टि गुणस्थान कहा जाता है। इस गुणस्थान में श्रद्धा तो पुष्ट हो जाती है पर आचरण का क्रम नहीं बनता। इसका कालमान तेतीस सागर से कुछ अधिक है।

5. देशविरति गुणस्थान – यह आचरण के प्रारंभ होने की अवस्था है। जिसके पूर्ण व्रत न हो, व्रत-अव्रत दोनों हों, उसके गुणस्थान को देशविरति गुणस्थान कहते हैं। इसे देशव्रती, संयतासंयति गुणस्थान कहते हैं। यह श्रावक का गुणस्थान है। इसका कालमान कुछ कम करोड़ पूर्व है।

6. प्रमत्त संयत गुणस्थान – यह समग्र व्रत-आचरण की अवस्था है। इसमें सम्पूर्ण आचरण के साथ प्रमाद (अनुत्साह) जुड़ा हुआ है। ऐसे सम्पूर्णव्रती व प्रमादी साधु के गुणस्थान को प्रमत्त संयत गुणस्थान कहा जाता है। इसका कालमान कुछ कम करोड़ पूर्व है।

7. अप्रमत्त संयत गुणस्थान – यह समग्र व्रत के साथ अप्रमाद की अवस्था है। ऐसे अप्रमादी साधु के गुणस्थान को अप्रमत्त संयत गुणस्थान कहा जाता है। यह छठे गुणस्थान से बहुत ही विशुद्ध है। साधुओं में छठा गुणस्थान स्थायी रहता है। बीच-बीच में अप्रमाद की स्थिति में सातवां आता रहता है। इसका कालमान

अन्तर्मुहूर्त्त है। जयाचार्य के शब्दों में–'अंतरमुहुरत तिहां (सातवें गुणस्थान में) रही रे, छठे बहुस्थिति जाण।' साधु प्रलंब काल तक वैसे छठे गुणस्थान में रहता है, क्योंकि सातवें की स्थिति स्वल्प काल की है।

8. निवृत्ति बादर गुणस्थान– यह स्थूल कषाय से निवृत्ति की अवस्था है। इस गुणस्थान में कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) स्थूल रूप में उपशांत या क्षीण होता है। इस गुणस्थान से मोह को विनष्ट करने की प्रक्रिया का प्रारम्भ होता है। इस गुणस्थान से दो श्रेणियां निकलती हैं–उपशम और क्षपक। उपशम श्रेणी में मोह को दबाता हुआ चलता है जबकि क्षपक श्रेणी में आरूढ़ मोह को क्षीण करता हुआ बढ़ता है। इस श्रेणी वाले को पीछे मुड़कर देखने की जरूरत नहीं। वह निश्चयत: मोह का सम्पूर्ण विलय कर देता है। उपशम श्रेणी वाले को ग्यारहवें गुणस्थान से अनिवार्यत: लौटना पड़ता है। दूसरा कालमान अन्तर्मुहूर्त्त है।

9. अनिवृत्ति बादर गुणस्थान– कषाय से प्राय: निवृत्ति की अवस्था है। इस गुणस्थान में कषाय थोड़ी मात्रा में रहता है इसलिए इसे अनिवृत्ति बादर गुणस्थान कहते हैं। कषाय निवृत्ति के आधार पर आठवें तथा कषाय से अभी पूरा निवृत्त नहीं हुआ–इस आधार पर नौवें गुणस्थान का नाम है। इसका कालमान भी अंतर्मुहूर्त्त है।

10. सूक्ष्म संपराय गुणस्थान– यह क्रोध, मान, माया के अभाव व लोभ की सूक्ष्म विद्यमानता की अवस्था है। इसमें तीन कषाय उपशांत या क्षीण तथा लोभ कषाय अल्प मात्रा में रहता है। इसका कालमान अंतर्मुहूर्त्त है।

11. उपशांत मोह गुणस्थान– यह मोह के समग्र उपशम की अवस्था है। उपशम श्रेणी वाला यहां तक पहुंच पाता है। इसमें कषाय-मोह का उपशम होता है, समूल विच्छेद नहीं। वह राख से ढ़की हुई आग की तरह पुन: भभक जाता है। इसका कालमान भी अंतर्मुहूर्त्त है।

12. क्षीण मोह गुणस्थान– यह मोह के सर्वथा क्षीण होने की अवस्था है। मोह कर्म के सर्वथा क्षीण होने को क्षीण मोह गुणस्थान कहते हैं। क्षपक श्रेणी वाला दसवें से सीधे बारहवें में प्रविष्ट होकर मोह (मोहनीय कर्म) का समूल नष्ट कर देता है। इसका कालमान अंतर्मुहूर्त्त है।

13. सयोगी केवली गुणस्थान– यह सयोगी केवली की अवस्था है। जो केवली योग (मन, वचन, काया) की प्रवृत्ति से युक्त होता है, उसके गुणस्थान को सयोगी केवली गुणस्थान कहा जाता है। इस अवस्था में चार घाति कर्म में अवशिष्ट तीन–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अंतराय को क्षीण कर देता है। इस गुणस्थानवर्ती को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भी कहा जाता है। इसका कालमान कुछ कम करोड़ पूर्व है।

14. अयोगी केवली गुणस्थान– यह अयोगी केवली की अवस्था है। जो केवली येाग की प्रवृत्ति से रहित हो जाता है, उसके गुणस्थान को अयोगी केवली गुणस्थान कहते हैं। इस अवस्था में केवली सर्वथा योग मुक्त बनकर अयोगी बन जाता है। अनादि कालीन कर्म बंधन से सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाता है। इसका कालमान पांच ह्रस्वाक्षर (अ, इ, उ, ऋ, लृ) के उच्चारण मात्र का होता है। गुणस्थान का समय सम्पन्न होते ही आत्मा कर्म मुक्त, संसारमुक्त, शरीरमुक्त होकर ऋजु गति से लोक के अग्र भाग पर स्थिर हो जाती है। इसे सिद्धगति भी कहते हैं। सिद्ध गति को प्राप्त आत्माओं का कभी भी पुनर्जन्म, पुनरागमन, पुनरवतार नहीं होता। एक प्रकाश पुञ्ज की भांति परम विशुद्ध हो जाती है।

आत्म-विशुद्धि के आधार पर निर्मित यह गुणस्थान सिद्धान्त जैन दर्शन का एक अपूर्व सिद्धान्त है। इसकी सम्यग् अवगति सभी के लिए अपेक्षित है।

प्रस्तुति–मुनि उदित कुमार

अनेकान्तवाद

अपने दैनन्दिन जीवन में काम आने वाली वस्तुओं को याद कीजिए और उन्हें विभिन्न श्रेणियों में विभक्त करने की कोशिश कीजिए। क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि कितनी श्रेणियाँ पर्याप्त होगी। यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि संभव है कि कोई व्यक्ति सजीव और निर्जीव इन दो श्रेणियों में सभी का विभाजन कर दे। वहीं कोई व्यक्ति पिता, माता और बच्चों के उपयोग में आने वाली वस्तुओं को आधार बनाकर तीन श्रेणियों में इन्हें बांटने की कोशिश करे। अलग-अलग आधारों पर वस्तुओं को तीन, चार पाँच....हजार, लाख, असंख्य या अनन्त श्रेणियों में भी विभाजित किया जा सकता है। अगर कोई निश्चित उत्तर की मांग करे तो.....!

आइंस्टीन ने इसी सापेक्षता (विभिन्न स्थितयों के आधार पर उत्तर में पैदा होने वाली भिन्नता) को एक मजेदार उदाहरण से समझाया। कल्पना करें कि आप अपने किसी अत्यन्त प्रिय मित्र के साथ वार्तालाप में संलग्न हैं। एक घंटा का समय आपको कितना सा प्रतीत होगा। वहीं आप किसी अप्रिय कार्य को करने में लगे हुए हैं तो वह समय कितना लम्बा प्रतीत होगा। समय की यह दीर्घता या लघुता सापेक्ष है। यह व्यक्ति की कार्य रुचि पर आधारित है।

''एडवर्ड डी. बोनो'' चर्चा-वार्ता के दौरान सापेक्षता के प्रयोग का प्रशिक्षण देते हैं। वे विभिन्न सेमिनारों में आग्रह युक्त चर्चा के नुकसान बताते हैं। उनके द्वारा लिखी गई एक पुस्तक ''हाऊ टु हैव अ ब्युटीफुल माइंड'' में उन्होंने इसे काफी अच्छी तरह से समझाया है। एक उदाहरण लें–''एक शोध के मुताबिक ब्रिटेन के प्रति एक लाख नागरिकों में से 89 से 120 लोग जेलों में है। वहीं अमेरिका में यह आँकड़ा प्रति एक लाख में 750 है। आप इसका क्या अर्थ निकालेंगे। क्या अमेरिका में अपराध दर ज्यादा है.....। अधिकांश लोग उपरोक्त तथ्यों के आधार पर यही निष्कर्ष निकालेंगे। लेकिन यदि हम गहराई से सोचें तो प्रतीत होगा कि अमेरिका की जेलों में ब्रिटेन की तुलना में ज्यादा कैदी होने के पीछे अन्य कारण भी हो सकते हैं, जैसे–

1. संभव है अमेरिका में ब्रिटेन की तुलना में ज्यादा तरह के कृत्य अपराध की श्रेणी में आते हों।
2. संभव है अमेरिका में पुलिस ब्रिटेन की तुलना में ज्यादा सक्षम हो और वह अधिकांश अपराधियों को गिरफ्तार कर लेती हो।
3. संभव है कि अमेरिका में ब्रिटेन की तुलना में लम्बे समय तक जेल में रखा जाता हो।
4. यह भी संभव है कि अमेरिका में कोर्ट के बाहर केस का समाधान अथवा रिश्वत आदि के द्वारा केस को प्रभावित करने जैसी घटनाएँ ब्रिटेन की तुलना में कम घटती हो।''

इस प्रकार किसी एक तथ्य को विभिन्न अपेक्षाओं से देखकर अनेक प्रकार के निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

जैन दर्शन में इसे अनेकांत कहते हैं। एक वस्तु अथवा तथ्य के बहुत सारे पक्ष हो सकते हैं। जब कोई व्यक्ति एक ही पक्ष को पकड़ कर बैठ जाता है और अन्य पक्षों से इन्कार करता है तब वह अधूरे सच को ही जान पाता है। अधूरे सच को झूठ से भी खतरनाक माना जाता है, क्योंकि उससे मनचाहे निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। इस सन्दर्भ में एक बहुत सुन्दर कथा जैन ग्रंथों में पाई जाती है। एक गांव में हाथी का आगमन हुआ। उसे देखने बहुत सारे लोग आए। उनमें छः अंधे व्यक्ति भी थे चूंकि उनके पास आंखें नहीं थी इसलिए उन्होंने उसे छूकर

देखा। जब सब लोग चले गए तब अंधों में हाथी के आकार को लेकर झगड़ा हो गया। कोई उसे खंभे जैसा बता रहा था तो कोई रस्सी जैसा, कोई छाज जैसा, कोई तिरपाल जैसा, कोई मूसल जैसा और कोई पाइप जैसा बाता रहा था। अंतत: एक आंख वाले व्यक्ति ने उन्हें बताया कि उनके समझने में क्या भूल हो रही थी। दरअसल वे सभी हाथी के मात्र एक-एक अंग को ही छू पाए थे। उस धारणा के आधार पर वे हाथी को समान वस्तु का नाम लेकर उपमित कर रहे थे, यथा–पैर छूने वाला हाथी को खंभे के समान बता रहा था, वहीं पूंछ छूने वाला रस्सी जैसा, कान छूने वाला छाज जैसा, पेट छूने वाला तिरपाल जैसा, दांत छूने वाला मूसल जैसा और सूंड को छूने वाला उसे पाइप जैसा बता रहा था।

एक पक्षीय ज्ञान किस प्रकार सत्य को प्रभावित करता है, इसे इस (उपरोक्त) उदाहरण से अच्छी तरह समझा जा सकता है। सत्य के विविध पक्षों को जानना ही अनेकान्त है। जैन दर्शन में इसका उपयोग व्यापक स्तर पर होता रहा है इसलिए इसमें संकीर्णता एवं आग्रह को अपने पैर पसारने का मौका नहीं मिला। उदाहरण के तौर पर दार्शनिक जगत् में चलने वाली एक मुख्य चर्चा को ही लें। जगत् नित्य है या अनित्य? विभिन्न दर्शनों में इसके बारे में अनेक मत मतान्तर उपलब्ध हैं। जैन दर्शन इस सन्दर्भ में अनेकांत दृष्टि का प्रयोग करते हुए कहता है–प्रवाह की दृष्टि से जगत् नित्य है तथा वर्तमान स्वरूप की अपेक्षा से वह अनित्य है। जैसे एक नदी में जल हमेशा विद्यमान रहता है, इस दृष्टि से नदी हमेशा बनी रहती है। लेकिन जो जल अभी था वह एक क्षण बाद नहीं रहेगा। इस दृष्टि से वह हर क्षण अपने वर्तमान स्वरूप को खो रही है। इसी प्रकार जगत् परिवर्तनशील स्वभाव के कारण अनित्य है और प्रवाह रूप में हमेशा अपनी मौजूदगी के कारण नित्य है। लेकिन इन दोनों तथ्यों में से एक का आग्रह रखने के कारण दार्शनिकों में अन्तहीन चर्चाएँ होती हैं, शास्त्रार्थ होते हैं और राग-द्वेष की भावनाओं का प्रसार होता है।

अनेकान्त आग्रह मुक्त संतुलित चिन्तन का समर्थन करता है। यदि अनेकान्त हमारी जीवनशैली का हिस्सा बन जाए तो हम कुछ तरह के वाक्यों से बचेंगे, जैसे–

- तुम बिल्कुल गलत हो।
- तुम्हारी सोच मूर्खतापूर्ण है।
- मैंने जो कहा वह लोहे की लकीर है।

इस तरह के वाक्यों की बजाय हम कुछ ऐसे वाक्यों का प्रयोग करेंगे–

- इस विषय पर नई अपेक्षा से भी सोचा जा सकता है।
- मैं तुम्हें गलत नहीं कह रहा हूँ परन्तु तुम्हें मेरा पक्ष भी जानना चाहिए।
- इसका एक विकल्प यह भी हो सकता है।

उपरोक्त तरह के वाक्य किसी प्रकार का प्रहार नहीं करते। आपने गौर किया होगा कि इन वाक्यों में ''ही'' की बजाय ''भी'' शब्द का प्रयोग किया गया है। इन दो वाक्यों पर गौर करें। ''मैं ही सत्य हूँ'' और ''मैं भी सत्य हूँ''। पहला वाक्य कठोरता और आग्रह से भरा है और दूसरा अनेकान्त को साथ लेकर चलता है।

यदि हम अनेकान्त को व्यावहारिक जीवन में अपना सकें तो अनगिनत पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं वैश्विक समस्याओं का समाधान कर सकते हैं। शांति, समरसता और सौहार्द की स्थापना में अनेकान्तमय जीवनशैली एक मजबूत आधार बन सकती है।

प्रस्तुति–मुनि पीयूष कुमार

तेरापंथ विलक्षण क्यों?

राजस्थान के एक छोटे से गांव कंटालिया में जन्मे एक क्रांतिकारी संत भीखण ने जब अपने समय के महानतम और शक्तिशाली धर्मसंघों से अलग होकर वैचारिक क्रांति का आगाज किया तो उसकी अनुगूंज इतनी धीमी थी कि प्रतीत होता था कि यह क्रांति का पौधा खाद और पानी के अभाव में असमय ही मुर्झा जाने की प्रतीति हुई किन्तु यह पौधा फला-फूला और एक विराट वटवृक्ष के समान छायादार एवं आश्रय स्थल बन गया और आज ढाई सौ वर्ष बाद विश्व के बड़े-बड़े धर्मगुरु, राजनेता और सामाजिक कार्यकर्त्ता वैश्विक समस्याओं के समाधान में इस छोटे से बुद्धिजीवी धर्मसंघ की महत्ती भूमिका को स्वीकार कर रहे हैं। तेरापंथ नामक यह संघ इतना विलक्षण क्यों बना इस विषय पर काफी अच्छा शोधकार्य किया जा सकता है, क्योंकि इसके अनगिनत आयाम हो चुके हैं और प्रत्येक आयाम अपने आपमें महाग्रंथ की हैसियत रखने वाला है।

प्राथमिक तौर पर तेरापंथ की विलक्षणता को प्रतिपादित करने के लिए चार आधार सूत्रों का प्रयोग किया जा सकता है– 1. ठोस सैद्धान्तिक धरातल, 2. मर्यादा और अनुशासन, 3. समाधानपरक दृष्टिकोण, 4. असाम्प्रदायिक चिन्तन।

1. ठोस सैद्धान्तिक धरातल– आचार्य भीखणजी (अथवा भिक्षु) ने तेरापंथ का निर्माण केवल दूसरों से अपने आपको अलग एवं विशिष्ट साबित करने के लिए नहीं किया अपितु इसके पीछे ठोस सैद्धान्तिक आधार था। आगम वाणी (तीर्थंकर महावीर के विचारों का संकलन) के आधार पर तैयार किये गए उन मौलिक सिद्धान्तों ने बेशक व्यावहारिकता के नाम पर पनपने वाली सैद्धान्तिक विकृतियों को चोट पहुँचाई मगर अपनी सटीकता के कारण तात्कालीन बुद्धिजीवी वर्ग के बीच में अपनी गहरी पैठ भी स्थापित की। उनके सम्पूर्ण सिद्धान्त को तो नहीं किन्तु कुछेक बानगियों को प्रस्तुत करना चाहूँगा–

❊ त्याग धर्म है, भोग अधर्म है, व्रत धर्म है, अव्रत अधर्म है। आज्ञा (वीतराग प्रभु की) धर्म है, आज्ञा के बाहर अधर्म है, हृदय परिवर्तन धर्म है, बल प्रयोग अथवा जबरदस्ती धर्म नहीं है।

❊ असंयमी जीव के जीने की वांछा करना राग, मरने की वांछा करना द्वेष तथा संसार समुद्र से तरने की वांछा करना वीतराग देव का धर्म है।

❊ जीव जीवे ते दया नहीं, मरे ते हिंसा मत जाण।

मारण वाले ने हिंसक कह्यो, नहीं मारे ते दया गुण खाण॥

2. मर्यादा और अनुशासन– सिद्धान्तों की ठोस बुनियाद के बावजूद अगर तेरापंथ के पास मर्यादा और अनुशासन का बल नहीं होता तो संघ इतना प्राणवान एवं तेजस्वी नहीं बन पाता। हम अपने आस-पास के वातावरण में ऐसे अनेक व्यक्ति खोज सकते हैं, जिनके पास श्रेष्ठतम विचार है किन्तु अपने जीवन में अनुशासन का अभाव होने के कारण वे समाज में कोई विशिष्ट पहचान नहीं बना पाते। हम कल्पना कर सकते हैं कि तेरापंथ के पास महान् सिद्धान्त तो होते किन्तु साधुओं में स्वच्छंदता होती और संघ में नियंत्रण क्षमता का अभाव होता तो हमारा आकर्षण संघ के प्रति कैसा होता।

तेरापंथ के आचार्य मर्यादा को प्राणतत्त्व की उपमा यूं ही नहीं देते। वे जानते हैं कि जन-साधारण बाह्य व्यक्तित्व के आधार पर आपके आंतरिक व्यक्तित्व का अंकन करता है। वह सिद्धान्तों से भी ज्यादा जीवनशैली पर ध्यान देता है। आचार्य भिक्षु ने इसी अवधारणा को सामने रखते हुए अनुशासन को पुष्ट करने के लिए कुछ

मौलिक मर्यादाओं का निर्माण किया, जैसे–सभी साधु-साध्वियाँ एक आचार्य की आज्ञा में रहे, विहार एवं चातुर्मास आचार्य की आज्ञा के अनुसार करे, कोई अपने शिष्य-शिष्या न बनाए, योग्य व्यक्ति को दीक्षा दे, दीक्षा के पश्चात् यदि वह अयोग्य प्रतीत हो तो उसे संघ से अलग कर दे।

3. समाधानपरक दृष्टिकोण– कोई भी संघ कितना भी श्रेष्ठ क्यों न हो जब तक वह समाज के लिए अपनी उपयोगिता को प्रमाणित नहीं कर पाता तब तक उसकी पहचान व्यापक नहीं बन सकती। तेरापंथ की विलक्षणता का एक मापदण्ड उसका समाधानपरक दृष्टिकोण भी है। उसने युगीन समस्याओं के सन्दर्भ में गहराई से चिंतन, मंथन और विश्लेषण किया और उसके समाधान भी उपलब्ध करवाए। धार्मिकता केवल उपासना परक न होकर आचरणपरक हो इस दृष्टिकोण को सामने रखकर अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया गया। शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक व्याधियों के आध्यात्मिक सामधान के रूप में प्रेक्षाध्यान का प्रणयन किया गया। शिक्षा के क्षेत्र में आध्यात्मिकता का पुट देने हेतु जीवन-विज्ञान का निर्माण किया गया। जैन दर्शन के व्यापक प्रचार-प्रसार एवं विश्व के कोने-कोने में फैल चुके जैन समाज की सार-संभाल हेतु समण-श्रेणी का गठन किया गया। शिक्षा, शोध, साहित्य, सेवा, साधना, संस्कृति और समन्वय–इन सात सकारों के विकास हेतु जैन विश्वभारती की स्थापना की गई। इसी प्रकार आगम सम्पादन, पारमार्थिक शिक्षण संस्था, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, अहिंसा प्रशिक्षण, सापेक्ष अर्थशास्त्र, उपासक श्रेणी, ज्ञानशाला आदि विभिन्न उपक्रम समय-समय पर सामने आते गए और तेरापंथ की व्यापक सोच को जग जाहिर करते गए। आज जब भी समस्याओं पर चिन्तन किया जाता है तो तेरापंथ को एक समाधायक के रूप में याद किया जाता है।

4. असाम्प्रदायिक चिन्तन– जनता में आध्यात्मिक चेतना के जागरण में विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों ने जहां अपनी भूमिका का निर्वहन किया है, वहीं कभी-कभी अपने कट्टरपंथी नजरिए के कारण वे सामाजिक विभाजन और हिंसा के कारक भी बने हैं। जब-जब भी आध्यात्म को सम्प्रदाय के घेरे में बंदी बनाने का प्रयास किया गया है तब-तब आध्यात्म की हानि ही हुई है। तेरापंथ अपने उद्भव काल से ही आध्यात्मिक विकास के मामले में सम्प्रदाय की भूमिका को लेकर निरपेक्ष ही रहा है। आचार्य भिक्षु के अभिनिष्क्रमण काल में घोषित किये गए मौलिक सिद्धान्तों में से एक था–''मिथ्यात्वी की सत्करणी जिनेश्वर की आज्ञा में है''। आचार्य तुलसी ने इसी आधारभूत तथ्य को सामने रखते हुए सम्प्रदाय विहीन धर्म 'अणुव्रत' का प्रवर्तन किया। आज के युग में किसी गुरु परम्परा से बंधे बिना मात्र जीवन को आध्यात्मिक उच्चता देने वाले धर्म अणुव्रत को उसके असाम्प्रदायिक परिवेश के कारण बड़ी सहजता से स्वीकार किया जा रहा है। यह यात्रा मात्र अणुव्रत तक ही नहीं थमी है अपितु प्रेक्षाध्यान, जीवन-विज्ञान आदि अनेक आयाम ऐसे हैं, जिनसे जुड़ने के लिए गुरुधारणा की अपेक्षा नहीं है। आज इसी कारण तेरापंथ के मंच पर हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई सभी की बेहिचक उपस्थिति देखी जाती है। हालांकि तेरापंथ समाज के अनुयायी वर्ग की संख्या लाखों में ही है लेकिन इसका असाम्प्रदायिक चिन्तन की बदौलत इसका कार्यक्षेत्र काफी व्यापक बन गया है।

सदा सर्वदा अपनी परम्परावादी सोच के साथ चलते हुए भी युगीन चिन्तन से निरपेक्ष न रहने वाला तेरापंथ अपने निर्माण के ढाई सौ वर्ष मना चुका है। इसे आचार्य भिक्षु द्वारा चिरजीविता का वरदान प्राप्त है मगर एक शर्त पर कि ''जब तक इसका साधु-साध्वी एवं अनुयायी वर्ग चरित्रनिष्ठ एवं आचारशील रहेगा तथा शिथिलाचार से दूर रहेगा।'' और इस तरह इसकी विलक्षणता और तेजस्विता के साथ-साथ चिरजीविता को भी कायम रखने की जिम्मेदारी भी भिक्षु हमारे हाथ में सौंप गए हैं। देखना होगा कि हम कब तक उस जिम्मेवारी को निभा पाते हैं।

प्रस्तुति–मुनि पीयुष कुमार (गंगाशहर)

मौलिकता रहे सुरक्षित, परिवर्तन सदा अपेक्षित

मोक्ष प्राप्ति के लक्ष्य को लेकर चलने वाले साधकों के लिए भगवान महावीर ने साधना के क्षेत्र में अनेक विकल्प दिये। उनमें एक कोटि एकल–विहारी साधुओं की रही, दूसरी कोटि के साधु बद्ध होकर रहते हैं। साधना का स्रोत अकेले में संघ अधिक स्वच्छ हो सकता है, क्योंकि एकल बिहारी का मनोबल, शरीरबल, तपोबल, ज्ञानबल व धृति बल विशिष्ट होता है। उनका आत्मानुशासन इतना परिपक्व होता है कि उन्हें व्यावहारिक नियमों की अपेक्षा नहीं होती, परन्तु अकेले रहने की क्षमता सबमें नहीं होती, सबका आत्मानुशासन विवेक व वैराग्य सरीखा नहीं होता, आत्मिक विकास में भी तारतम्य होता है, जीवन यापन व व्यवहार कौशल में जो तारतम्य होता है, उसमें मर्यादाओं व नियमों के द्वारा सन्तुलन किया जा सकता है। नियम दो प्रकार के होते हैं– 1. शाश्वत, 2. सामयिक। शाश्वत नियम अपरिवर्तनीय होते हैं, सामयिक नियम तत्कालीन परिस्थितियों से उपजते हैं। परिस्थितियाँ बदलती हैं, नियम भी बदल जाते हैं। यदि उनमें बदलाव न हो तो जीवनशैली अव्यवस्थित व रूढ हो जाती है। देशकाल बदल जाने पर भी देशकाल जनित स्थिति व नियमों से चिपके रहने की मनोवृत्ति जीवन में विकास व लक्ष्य प्राप्ति में बाधक बन जाती है। आचार्य तुलसी की भाषा में–

प्राण विहीन विचार वे, जहां न शुद्धाचार।
रूढ बने आचार भी, जहां न विशद विचार॥

परन्तु जिन्हें जैन दर्शन का पर्याय-परिवर्तन का सिद्धान्त प्राप्त है वे परिस्थितियों के साथ सामयिक नियमों में भी मौलिकता को कायम रखते हुए परिवर्तन या संशोधन करते रहते हैं। लक्ष्य प्राप्ति के मूल आधार तत्त्व को छोड़कर किया गया परिवर्तन गोबर की नींव पर मकान बनाने के समान हो जाता है, मूल को सुरक्षित रख किया गया सामयिक परिवर्तन विकास का नया सोपान देता है। तेरापंथ धर्मसंघ भी इस व्यवस्था से अछूता नहीं रहा, आचार्य भिक्षु ने अपनी दीर्घ दृष्टि व सूक्ष्म मनीषा से जिस सामयिक संविधान का निर्माण किया, उसमें परम्परागत उत्तराधिकारी के हाथ में अपेक्षानुसार परिवर्तन की बागडोर भी थमा दी इसीलिए तेरापंथ में आचार्यों ने समय-समय पर सामयिक नियमों में परिवर्तन व संशोधन किये तो कुछ नये नियम बनाए, कुछ नियम जो समयानुसार अपेक्षित नहीं रहे, उन्हें कृतार्थ भी किया, आचार्यों ने साध्वाचार के पांच महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि आगमिक नियमों को यथावत रखते हुए अनेक बदलाव किये। आचार्य भिक्षु ने नियमों का निर्माण किया, भारीमलजी ने उन्हें स्थायित्व दिया, परिवर्तन की परम्पराग का सूत्रपात ऋषिराय युग से शुरू हुआ जो वर्तमान में भी चालू है, प्रस्तुत तेरापंथ में परिवर्तन की परम्परा–

1. ऋषिराय युग

1. तम्बाखू पर प्रतिबंध– उस युग में कुछ साधु तम्बाखू सूंघते थे। ऋषिराय ने इस वृत्ति को साधना के उपयुक्त नहीं समझा, अत: उन्होंने नियम बना दिया कि जो साधु तम्बाखू का प्रयोग करेगा, उसे बदले में दूध-दही आदि छह विगय का परिहार करना होगा, आज यह नियम स्वत: कृतार्थ हो गया।

2. आचार्य राचंदजी के समय तक आचार्य से रत्नाधिक मुनि दैनिक चर्या की आलोचना स्वत: ही कर लेते, ऋषिराय ने विविध स्थापित कर दी कि छोटे-बड़े सभी साधु आलोचना आचार्यों के पास ही करें।

3. आचार्य भिक्षु व भारीमाल युग में रात्रि में सूई कैंची पास में रखते थे। ऋषिराय ने मर्यादा बना दी कि रात्रि में उन्हें पास में न रखें।

2. जय युग

1. आचार्य भिक्षु से ऋषिराय तक साधु आछ (छाछ का पानी), चावलों का मांड व घृत अपने हाथ से ले लेते थे, दीपक आदि के सहज प्रकाश में पढने की भी परम्परा थी, संतों के वस्त्र प्रक्षालन की विधि भी थी, संत स्वयं के याचित पानी से (गृहस्थ घर में अकेला है और उसके हाथ साफ नहीं हैं तो) गृहस्थ के मलिन हाथ धुलाकर उसके हाथ से भिक्षा ग्रहण कर लेते थे, यदि घर में आहार सूझता है पर अंधेरे में पड़ा है तो संत स्वयं पूंज कर वहां से आहार उठाकर बाहर प्रकाश में लाकर रख देते। गृहस्थ बहरा देता, पूर्व परम्परा से प्राप्त इन नियमों को भविष्य में सुखद न जानकर जयाचार्य ने बंद कर दिये। (श्रुतानुश्रुत)

2. धोवन पानी के अतिरिक्त राख से अचित्त हुए पानी लेने की विधि स्वीकृत की।

3. साधुओं द्वारा परस्पर शल्य-चिकित्सा करने व कराने की परम्परा प्रारम्भ की।

3. मघवा युग

1. पहले साधुवृन्द दैनिक चर्या की आलोचना प्रतिक्रमण के समय सुविधानुसार आगे-पीछे कर लेते, आचार्य मघवा ने विधान बनाया, सभी साधु प्रतिक्रमण के मध्य में आलोयणा करें।

2. जय युग तक प्रतिक्रमण में चार लोगस्स का ध्यान करने की ही परम्परा थी परन्तु विशेष निर्जरा की दृष्टि से आचार्य मघवा ने चालू परम्परा में परिवर्तन कर नया नियम बनाया कि रात्रि व दैवसिक प्रतिक्रमण में चार लोगस्स का पाक्षिक प्रतिक्रमण के दिन 12 लोगस्स का, चातुर्मासिक पक्खी को 20 लोगस्स का व सांवत्सरिक प्रतिक्रमण पर 40 लोगस्स का ध्यान किया जावे।

4. कालू युग

1. आर्य अनार्य देशों की व्याख्या में परिवर्तन कर विहार क्षेत्रों का विस्तार किया और संतों का खानदेश, हैदराबाद व बम्बई तक विहरण कराया।

2. मेवाड़ में चातुर्मास में दीक्षा देने की परम्परा नहीं थी, उसमें परिवर्तन कर चातुर्मास में दीक्षाएँ प्रदान कीं।

5. आचार्यश्री तुलसी

1. पूज्य कालूगणि तक यह धारणा थी कि आयुष्य न घटता है, न बढ़ता है, तुलसीगणि ने आगमिक सन्दर्भ देते हुए यह स्वीकार किया व मान्यता स्थापित की कि आयुष्य का बीच में भी भेदन हो सकता है।

2. संवत्सरी के दिन पानी नहीं जांचना, जयाचार्य से तुलसी युग तक चली इस परम्परा में परिवर्तन कर वि.सं. 1995, चूरू मर्यादा-महोत्सव पर पंचमी समिति के लिए संवत्सरी के दिन पानी जांचने की स्वीकृति दी।

3. वस्त्र-प्रक्षालन–तेरापंथ की परम्परा में आचार्यों के वस्त्र प्रारम्भ से ही धुलते थे परन्तु साधुओं के मुखवस्त्रिका व रात्रि में पहनने के कपड़े ही धोना मान्य था। वि.सं. 2016 चैत्र कृष्णा 12 को लाडनूँ में विधि-सहित वस्त्र प्रक्षालन की आज्ञा प्रदान की।

4. बहुमूल्य-वस्त्र–उस समय हमारे यहां नव रुपये पोने सोलह आने तक के मूल्य की एक पछेवड़ी को सामान्य एवं उससे ऊपर की कीमत को बहुमूल्य माना जाता था व उसे ग्रहण करना स्वीकृत नहीं था, बढ़ती कीमतों से उभरी कठिनाई को दृष्टिगत कर आपने वि.सं. 2004 आसोज शुक्ला एकादशी को रतनगढ़ में इस विधि में परिवर्तन कर दिया।

5. प्राचीन काल में चूलिए के कपाट होते थे, उन्हें खोलना हमारे यहां विहित नहीं था। कपाट बदल गए, हिंसा का प्रसंग नहीं लगा, ऐसी स्थिति में वि.सं. 2011 माघ शुक्ला एकादशी को बालोतरा में यह नियम बनाया गया कि बिना चूलिए के कपाट यत्नापूर्वक खोल सकते हैं।

6. औषध भोलना–प्राचीन काल में गृहस्थ के घर से औषध लाते, बची हुई पुन: मूल स्वामी को लौटा देते, समयान्तर में मेडिकल स्टोर्स की दवाइयां भी ली जाने लगीं, उन्हें भोलाने में कठिनाई आने लगी तब वि.सं. 2013 माघ शुक्ला 6 को आमेट में इस संबंध में नई नीति का निर्धारण कर यह मान्य किया कि मूल स्वामी की आज्ञा से दूसरों को भी सौंपी जा सकती हैं।

7. उष्ण आहार की मर्यादा–आचार्य भिक्षु से आचार्य तुलसी तक सायंकाल गोचरी करने की परम्परा नहीं थी। स्वास्थ्य आदि कारणों को ध्यान में रखकर वि.सं. 2016 माघ शुक्ला 6 को आमेट में निर्णय किया। 5 विगय परिहार के साथ सायं उष्ण आहार कर सकते हैं। वि.सं. 2019 फाल्गुन कृष्णा 6 राजनगर में विगय परिहार भी समाप्त कर दिया। नाश्ता करने की परम्परा भी तुलसी युग की देन है।

8. ध्वनि विस्तारक यंत्र–वि.सं. 2023 पोष कृष्णा एकादशी को बीदासर में यह नियम स्वीकृत हुआ कि गृहस्थ अपने सुनने की सुविधा के लिए माइक को प्रयोग में लें तो उसमें बोलना आपत्तिजनक नहीं है।

9. शल्य चिकित्सा–पूर्वकाल में गृहस्थ से शल्य चिकित्सा कराने की विधि नहीं थी, बीमारियां बढ़ीं, समाधि की जगह मानसिक संक्लेश की स्थितियाँ बनने लगीं तब वि.सं. 2029 वैशाख (प्रथम) शुक्ला 6 को राजलदेसर में यह निर्णीत हुआ कि आपवादिक स्थिति में शल्य-चिकित्सा गृहस्थ से कराई जा सकती है। विशेष अपवाद सेवन का प्रसंग हो तो गण की सामाचारी से मुक्त होकर भिन्न सामाचारी में रहना होगा।

10. साधन प्रयोग–अस्वस्थ या शारीरिक परवशता के कारण पाद विहार की अशक्यता में हाथठेला जैसा साधन काम में ले सकते हैं। वि.सं. 2026 बीदासर मर्यादा महोत्सव पर यह निर्णय किया गया।

11. राख की जगह चूने से अचित हुए पानी को लेना स्वीकृत किया।

12. गृहस्थ फोटो ले तो हमारी अनापत्ति रहे, यह विधि बनाई।

13. रेश्मी वस्त्रों का उपयोग बंद किया।

14. आलोचना प्रतिक्रमण के बाद सामूहिक लें, ऐसी विधि बनाई।

15. साधुओं द्वारा चश्मा का प्रयोग, प्लास्टिक के बर्तनों का उपयेाग व पानी के लिए मटकी रखने की विधि को स्वीकृत किया।

16. सामूहिक प्रतिक्रमण की विधि वि.सं. 2016 बीदासर धवल समारोह पर प्रारम्भ की। इस प्रकार करीब 250 वर्षों के इतिहास में तेरापंथ के आचार्यों ने मौलिकता सुरक्षित रखकर अनेक सामयिक परिवर्तन संशोधन कर विकास की परम्परा को जीत व्यवहार के साथ–प्रवाहमान रखा।

प्रस्तुति–मुनि मुकुल कुमार

तेरापंथ के वर्तमान अनुशास्ता आचार्यश्री महाश्रमण

जन्म

सरदारशहर की पुण्यस्थली। 13 मई, 1962 (वि.सं. 2019, वैशाख शुक्ला नवमी) का मंगल प्रभात। एक अनाम शिशु ने दूगड़ परिवार में मातुश्री नेमादेवी की कुक्षि से जन्म लिया। व्यवहार जगत् में 'मोहन' नाम से पहचान बनाई। पिताश्री झूमरमल जी का हृदयांगण खुशियों से भर गया। बालक मोहन बचपन से ही मेधावी, श्रमशील, कार्यनिष्ठ विद्यार्थी थे। उनकी विनम्रता, भद्रता, ऋजुता, मृदुता और पापभीरुता हृदय को छूने वाली थी। उस समय कौन जानता था कि यह बालक आगे चलकर तेरापंथ का ग्यारहवां अधिशास्ता बनेगा।

दीक्षा

भावी के गर्भ में कितने रहस्य छिपे होते हैं। समय आने पर ही वे उद्घाटित होते हैं। जब बालक मोहन मात्र सात वर्ष की लघु अवस्था में थे तभी वे पितृ-वात्सल्य से वंचित हो गए। परिवार में एक अपूरणीय क्षति हो गई किन्तु मातुश्री ने अपनी वत्सलता और स्नेह देकर कभी अपने लाडले को उस रिक्तता की अनुभूति नहीं होने दी। जीवन की क्षणभंगुरता ने बालक की दिशा और दशा—दोनों को बदल दिया। उसके मन में वैराग का अंकुर प्रस्फुटित हो गया। ज्यों-ज्यों उसे सिंचन मिला वह पुष्पित, पल्लवित होता चला गया। समय-समय पर माँ के द्वारा मिलने वाली प्रेरणाओं, सद्शिक्षाओं और सद्संस्कारों ने भी ब्रेनवाशिंग का काम किया। अध्यात्म के प्रति रुचि बढ़ती गई। धीरे-धीरे उन्होंने उन अर्हताओं को अर्जित कर लिया, जो एक दीक्षित होने वाले साधक में होनी चाहिए। उन्होंने अपने मनोबल और शरीरबल को तोलकर दीक्षा लेने की भावना आचार्यश्री तुलसी के सामने रखी। उस समय आचार्यश्री दिल्ली में प्रवासित थे। आचार्यश्री ने उनका यथोचित परीक्षण कर सरदारशहर की पुण्य भूमि पर ही मुनिश्री सुमेरमलजी (लाडनूँ) को दीक्षा देने की अनुमति प्रदान की।

5 मई, 1974 (वि.सं. 2031, वैशाख शुक्ला चतुर्दशी) रविवार के दिन बारह वर्ष की लघु अवस्था में वे दीक्षित हो गए, मोहन से मुनि मुदित बन गए। बाह्य परिवेश बदलने के साथ-साथ उनका आन्तरिक परिवेश भी बदल गया। सारी प्रवृत्तियाँ संयममय हो गईं। व्यवहार में बाहर जीना और निश्चय में भीतर में रहना उनका जीवनसूत्र बन गया। वे अपना अधिकाधिक समय स्वाध्याय, ध्यान, पाठ का कंठीकरण और उसके पुनरावर्तन में नियोजित करते थे। समय-समय पर उन्हें आचार्य तुलसी और युवाचार्य महाप्रज्ञ का सान्निध्य मिलता रहा। वि.सं. 2041, ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी को आचार्यश्री ने उन्हें अपनी व्यक्तिगत सेवा में नियुक्त कर लिया। इससे उन्हें ज्ञानार्जन, गुरुसेवा और गुरुकुलवास में रहने का सहज ही अवसर मिल गया। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओं में उनका अध्ययन चलता रहा।

महाश्रमण प्रारम्भ से ही एक प्रशान्तमूर्ति के रूप में प्रसिद्ध थे। न अधिक बोलना और न अधिक देखना। आंखों की पलकें भी प्राय: निमीलित ही रहती थीं। उनकी निस्पृहता, निरभिमानता सबको लुभाने वाली थी। ज्यों-ज्यों उनकी अर्हताएँ बढ़ रही थीं, दायित्व की परिधि भी विस्तार पा रही थी। वि.सं. 2041, जोधपुर प्रवास में वे एक उपदेष्टा के रूप में उभर कर सामने आए। आचार्य तुलसी ने उन्हें व्याख्यान से पूर्व प्रतिदिन उपदेश देने के कार्य में नियोजित किया।

महाप्रज्ञ के अन्तरंग सहयोगी

16 फरवरी, 1986 (वि.सं. 2042, माघ शुक्ला सप्तमी) उदयपुर मर्यादोत्सव के शुभ अवसर पर मुनि मुदित की क्षमताओं का मूल्यांकन करते हुए आचार्य तुलसी ने उनको युवाचार्य महाप्रज्ञ का अन्तरंग घोषित कर दिया। उस दायित्व का उन्होंने गहन निष्ठा और कुशलता से निर्वहन किया और संभवत: तभी से वे सुयोग्य उत्तराधिकारी के रूप में आचार्य-युवाचार्य के मानस पटल में अंकित हो गये।

साझपति (ग्रुपलीडर)

14 मई, 1986 (वि.सं. 2043, वैशाख शुक्ला चतुर्थी) ब्यावर में आचार्य तुलसी ने अक्षय तृतीया के अवसर पर मुनि मुदित को साझपति (एक मुनिसमूह का मुखिया) नियुक्त किया। उसी दिन से उनकी पहचान ग्रुपलीडर के रूप में की जाने लगी।

महाश्रमण पद पर प्रतिष्ठित

आचार्य तुलसी ने संघ में अनेक नवीन कार्य किए। 'महाश्रमण' पद का सृजन भी उसी नवीनता का परिचायक था। योगक्षेम वर्ष का पावन प्रसंग। लाडनूँ की पुण्यस्थली। 9 सितम्बर, 1989 (वि.सं. 2046, भाद्रव शुक्ला नवमी) का मंगलमय प्रभात। आचार्य तुलसी के पट्टोत्सव का पावन प्रसंग। उस दिन आचार्यवर ने मुनि मुदित को 'महाश्रमण' के गरिमामय पद पर नियुक्त कर एक नया इतिहास बना दिया। महाश्रमण को सम्मानस्वरूप पछेवड़ी ओढ़ाने का श्रेय शासन गौरव मुनिश्री बुद्धमलजी को मिला। वरीयता के क्रम में यह पद आचार्य और युवाचार्य के बाद होने वाला तीसरा पद था। यह पद अपने आप में गौरवशाली भी था और रचनात्मक कार्य करने की दिशा में एक नया कदम भी था।

शुभ भविष्य का शुभ संकेत

6 फरवरी, 1995 (वि.सं. 2051, माघ शुक्ला सप्तमी) का पावन दिन। महानगरी दिल्ली में समायोजित आचार्य महाप्रज्ञ का पदाभिषेक समारोह। गणाधिपति गुरुदेव तुलसी ने महाश्रमण मुनि मुदित कुमार को पुन: महाश्रमण पद पर प्रतिष्ठित करते हुए नियुक्ति पत्र में लिखा 'महाश्रमण मुनि मुदित कुमार आचार्य महाप्रज्ञ के गण-संचालन के कार्य में सतत् सहयोगी रहें तथा स्वयं गण-संचालन की योग्यता विकसित करें। इसके लिए अवशेष जो करणीय है, वह उचित समय पर आचार्य महाप्रज्ञ करेंगे।' विज्ञजनों की दृष्टि में यह ऐतिहासिक दस्तावेज शुभ भविष्य का स्पष्ट संकेत था।

युवाचार्य पद

पूज्यवर्य गणाधिपति श्री तुलसी के महाप्रयाण के कुछ दिनों पश्चात् आचार्य महाप्रज्ञ ने अप्रत्याशित रूप से युवाचार्य मनोनयन की घोषणा कर दी। 14 सितम्बर, 1997 (वि.सं. 2054, भाद्रव शुक्ला द्वादशी) का मंगलमय दिवस। चौपड़ा हाई स्कूल का विशाल मैदान। वह दृश्य जन-जन के लिए कितना आह्लादकारी और नयनाभिराम था जब आचार्य महाप्रज्ञ ने विशाल जनमेदिनी के मध्य– 'आओ मुदित' कहकर पुकारा। एक शब्द के साथ ही लाखों हाथ हवा में लहरा उठे, जय निनाद से धरती-अंबर गूंज उठे और खुशियों से मंगल शंख बज उठे। एक आवाज के साथ ही महाश्रमण मुनि मुदित युवाचार्य महाश्रमण बन गए, लाखों लोगों के आराध्य और पूजनीय बन गए। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने पहले स्वयं पछेवड़ी (उत्तरीय) धारण कर बाद में महाश्रमण को ओढ़ाकर उन्हें युवाचार्य के रूप में प्रतिष्ठित किया और अपने समीप पट्ट पर बिठाकर अलंकृत किया।

आचार्य पदाभिषेक

9 मई, 2010 (वि.सं. 2067, द्वि. वैशाख कृष्णा एकादशी) के दिन आचार्य महाप्रज्ञ का सरदारशहर, गोठी भवन में आकस्मिक महाप्रयाण हो गया। 23 मई, 2010 (वि.सं. 2067, द्वि. वैशाख शुक्ला दशमी) को गांधी विद्या मन्दिर के विशाल प्रांगण में आचार्य महाश्रमण का ग्यारहवें अनुशास्ता के रूप में पदाभिषेक का विशाल आयोजन था। उस समय देश के कोने-कोने से समागत 35 हजार श्रद्धालुजन तथा देश के शीर्षस्थ राजनीतिज्ञ व चिंतक श्री लालकृष्ण आडवाणी, राजनाथसिंह, राजस्थान के स्वास्थ्य मंत्री राजकुमार शर्मा, सांसद सन्तोषजी बागडोरिया, राजस्थान भाजपा के पूर्व अध्यक्ष श्री महेश शर्मा आदि उपस्थित थे। महामंत्रोच्चार 'जय जय महाश्रमण' के सामूहिक संगान के पश्चात् साध्वी प्रमुखा ने कार्यक्रम का संयोजन करते हुए आचार्यवर को पट्टासीन होने की भावभरी विनती की। पट्टासीन होने के बाद मुनिजनों ने आर्शमंत्रों द्वारा आचार्यवर की वर्धापना की। दीक्षा पर्याय में ज्येष्ठ मुनि सुमेरमल 'सुदर्शन' ने जैसे ही आचार्य महाश्रमण को पछेवड़ी ओढ़ाई, जयघोषों से सारा आकाश गूंज उठा। मुनि सुखलाल ने सम्पूर्ण धर्मसंघ की ओर से अभिनन्दन पत्र का वाचन किया औश्र उसे श्रीचरणों में उपहृत किया गया। पदाभिषेक के पश्चात् साध्वी प्रमुखा कनकप्रभाजी ने नवीन रजोहरण एवं प्रमार्जनी, मुख्य नियोजिका साध्वी विश्रुतविभाजी ने आहार के उपयोग आने वाला कलात्मक पात्र तासक, शासन गौरव साध्वी राजीमती ने गिलास, प्याला आदि आचार्यवर को भेंट किए। अन्त में आचार्य महाश्रमण ने संघ के नाम अपना प्रथम संबोध दिया। तेरापंथ की इस विलक्षण और अद्वितीय परम्परा को हजारों-हजारों आंखों ने निहारा और अभिनन्दन किया। अन्त में संघगान के साथ उल्लासमय, आनन्दमय और तृप्तिमय वातावरण में कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

प्रस्तुति – मुनि राजेन्द्र कुमार

तेरापंथ और सापेक्ष अर्थशास्त्र

यह एक सर्वमान्य धारणा है कि जैन आचार शास्त्र जो मुख्यत: निवृत्तिमूलक है, उसमें अर्थ के उपार्जन और उपभोग पर शायद ही कोई विवेचना हुई हो। किसी सीमा तक यह सही भी है किन्तु अनेकान्तिक दृष्टिकोण से जैन दर्शन में अर्थ की स्वीकृति भी है। वह स्वीकृति तभी है, जब अर्थ का उपार्जन सात्विक है, संरक्षण और संवर्धन सामुदायिक है और उपभोग संयमित है।

जैनागमों के अनुसार प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने लाखों वर्ष पूर्व प्रजा के अभ्युदय के लिए प्रवृत्ति-मार्ग का उपदेश दिया और आत्महित के लिए निवृत्ति मार्ग का।[1]

उन्होंने असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प–इन छ: कर्मों को प्रजा के सम्मुख प्रस्तुत किया।[2]

इसी बात को अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने श्रावक के लिए अणुव्रत के रूप में, सीमित भोग के रूप में प्रस्तुत किया। महावीर ने यंत्र की बजाय अनुभूति के आधार पर, आत्मा के आधार पर अन्वेषण किया। महावीर ने अध्यात्म और भौतिकवाद का समन्वय किया। उनके अनुसार अध्यात्म के साथ आर्थिक-विकास भी एक विकास है। लेकिन साथ-साथ उन्होंने यह भी कहा कि धन का अति-संग्रह भी नहीं होना चाहिए। आवश्यकता पूर्ति जरूरी है लेकिन जहां दूसरों के स्वार्थ की बलि हो, ऐसी आर्थिक सम्पन्नता कभी काम्य नहीं होगी और न होनी चाहिए।

महावीर ने उत्पादन के कोई प्रतिमान या उसकी कोई निश्चित प्रथमिकताएँ तय नहीं की। किन्तु महावीर के दर्शन की तीन मुख्य बातें सामने आती हैं, जिसे जैनाचार्यों ने लिपिबद्ध किया और उत्पादन की प्राथमिकताओं के कारक घटक के रूप में प्रस्तुत किया–

1. अपरिग्रह एवं व्यक्तिगत उपभोग के सीमांकन के द्वारा उत्पादन के संसाधानों को आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन के लिए विमुक्त किया।

2. उन्होंने कुछ वस्तुओं के उत्पादन का निषेध किया, जैसे–

अहिंसप्पमाणे	–	हिंसक शस्त्रों का निर्माण न करें।
असंजुत्ताहिकरणे	–	शस्त्रों का संयोजन न करें।
अपाव कम्मो वदे से	–	पाप कर्म, हिंसा आदि का प्रशिक्षण न दें।

3. उत्पादन में साधनशुद्धि के अन्य निर्देशों में उन्होंने भत्तपान विच्छेदन न करने को शामिल किया। इसके साथ महावीर ने श्रम के पारिश्रमिक में भी संयम का विधान किया।

महावीर वाणी के 'वणकम्मे' 'फोडीकम्मे' सुक्त उत्पादन की प्राथमिकताओं में पर्यावरण संतुलन की आवश्यकताओं को बताते हैं।

जैन आचार शास्त्र का उपभोग संयम का सिद्धान्त व्यक्तिगत एवं सामुदायिक हित चिंतन के उच्चतर प्रतिमान दर्शाता है। इस दृष्टि से इस सिद्धान्त को सार्वकालिक कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

आज की अर्थव्यवस्था की सबसे बड़ी चुनौतियाँ रोजगार के अवसर उपलब्ध करवाना और आर्थिक विषमता को असह्य बनने से रोकना है। किन्स ने 1936 में ये दोनों बातों को आज के समुदाय की मुख्य कमियाँ

बताया था जो आज भी सार्थक हैं। जैन आचार शास्त्र के आजीविका विच्छेद न करना और उपार्जन में साधन शुद्धि का प्रयोग इन दोनों समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं।

इन सारे सिद्धान्तों को आचार्य महाप्रज्ञ ने संतुलित एवं सर्वांगीण विकास के लिए आधुनिक सन्दर्भ में ''सापेक्ष अर्थशास्त्र'' के रूप में चार आयामों में प्रस्तुत किया है।

सापेक्ष अर्थशास्त्र की अवधारणा

1. आर्थिक व भौतिक विकास,
2. पर्यावरण की चेतना का विकास,
3. नैतिक मूल्यों का विकास,
4. आध्यात्मिक चेतना का विकास।

1. आर्थिक व भौतिक विकास

जब तक जीवन है, शरीर है, जीवन-यात्रा को चलाना है, तब तक पदार्थ छूट नहीं सकता। धन जीवन यापन के लिए साधन है। आज मनुष्य की यह धारणा है कि जिसके पास बहुत ज्यादा धन है, वह सुखी है। एक दृष्टि से यह यथार्थ है, क्योंकि जिसके पास धनाभाव या पदार्थाभाव है, वह दु:खी देखा जाता है। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में अर्थ की उपयोगिता के पाँच बिन्दु हैं–

1. अर्थ जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति का सबसे बड़ा साधन है।
2. अर्थ सुविधा का सबसे बड़ा साधन है।
3. अर्थ भौतिक विकास का साधन है।
4. अर्थ सामाजिक प्रतिष्ठा का साधन है।
5. अर्थ शांति और सुख का साधन भी है।

किन्तु इस सच्चाई को छिपाना भी उचित नहीं होगा कि जिसके पास धन या पदार्थ नहीं है, वह अभाव के कारण दु:खी है और जिसके पास धन और पदार्थ है, वह अतिभाव के कारण दु:खी है। यह विकास की अपूर्ण अवधारणा है। न धन का अभाव और न धन का प्रभाव। इस स्थिति से एक संतुलन का रूप बन सकता है।

2. पर्यावरण की चेतना का विकास

पदार्थ कम हैं और उपभोक्ता अधिक–यह एक सच्चाई है। पर्यावरण का पहला सूत्र है–पदार्थ कम है, इसलिए उसका उपभोग कम करों। आज उपभोक्तावाद बढ़ रहा है। कृत्रिम संस्कृति का विकास हो रहा है। पर्यावरण प्रदूषण के भयावह परिणाम सामने आ रहे हैं। पूरे विश्व में रासायनिक धूलि का विकिरण हो रहा है। मनुष्य की वृत्तियाँ उभर रही हैं, मनुष्य आक्रामक बन रहा है।

इन समस्याओं के समाधान हेतु आवश्यक है–पर्यावरण की चेतना का विकास। इसके लिए पर्यावरण-विज्ञान के पाँच सूत्रों पर ध्यान देना अपेक्षित है–

1. जीव और पदार्थ एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।
2. भौतिक वातावरण जीवों पर और जीव भौतिक वातावरण पर आश्रित हैं।

3. भूमि, पानी, हवा, ईंधन—ये सब इस अखिल जगत् की कड़ियाँ हैं। एक कड़ी के अस्त-व्यस्त होने पर सब कड़ियाँ अस्त-व्यस्त हो जाएँगी।
4. जीव किसी विशेष प्रकार की स्थिति में ही बच सकते हैं।
5. प्रकृति का सन्तुलन बना रहे, कोई भी तत्त्व असंतुलन की अवस्था को प्राप्त न हो जाये।

इसके साथ-साथ उपभोग-संयम और भौतिक प्रयत्न दोनों के समन्वय से पर्यावरण की चेतना का भी विकास हो सकता है जो कि संतुलित अर्थनीति का एक अभिन्न अंग है।

3. नैतिक मूल्यों का विकास

आज अर्थ निष्ठा बढ़ रही है। इस निष्ठा ने अन्य निष्ठाओं को दबा दिया है, तिरोहित कर दिया है। एक ऐसी आसक्ति बन गई कि धन ही साध्य बन गया है। उसके लिए आदमी सब कुछ कर सकता है। जब तक धन की आसक्ति को कम नहीं किया जाता तब तक नैतिक मूल्यों के विकास की बात संभव नहीं है। धन साधन है, उसका उपयोग होना एक बात है और उसमें आसक्ति का होना दूसरी बात है। अप्रामाणिकता, भ्रष्टाचार, शोषण आदि आदमी की अतिबुद्धि का, धन की आसक्ति का परिणाम है। धन की आसक्ति को बदले बिना नैतिक मूल्यों के प्रति निष्ठा को पैदा नहीं किया जा सकता।

नैतिकता का ज्यादा सम्बन्ध व्यापारी वर्ग से जोड़ दिया गया, जबकि नैतिकता का सम्बन्ध सबसे है। हर व्यक्ति से नैतिकता का सम्बन्ध है। दीर्घकाल में नैतिकता ही सफल होती है। व्यापार की दो नीतियाँ होती हैं— अल्पकालीन नीति और दीर्घकालीन नीति।

आज अनैतिकता और अप्रामाणिकता बढ़ रही है। यह चिंता की बात नहीं है, चिंता की बात यह है कि नैतिकता के प्रति आदमी की आस्था हिल गई है। विश्वास डगमगा गया है।

4. आध्यात्मिक चेतना का विकास

काम और अर्थ समाज की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले हैं। काम का अर्थ है—अधिकार, संग्रह और उपभोग की इच्छा। अनियंत्रित काम व्यवस्था अर्थव्यवस्था को भी अनियंत्रित कर देती है। इसलिए आवश्यक है काम की चेतना का परिष्कार। काम साध्य है। अर्थ उसकी पूर्ति का साधन है। आज काम व्यवस्था को उपेक्षित कर अर्थव्यवस्था को संतुलित करने का प्रयत्न हो रहा है। यह एकांगी दृष्टिकोण ही परिष्कार के लिए समस्या बन रहा है।

अध्यात्म के बिना काम का परिष्कार नहीं होता और काम के परिष्कार के बिना अर्थ का परिष्कार नहीं होता। इसलिए आवश्यक है काम और अर्थ को परिष्कृत करने वाली आध्यात्मिक चेतना का विकास।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार इसके साथ-साथ स्वस्थ अर्थव्यवस्था की संरचना के लिए चार बिन्दुओं पर भी ध्यान देना आवश्यक है—

1. अहं विलय की चेतना का जागरण।
2. परस्परता की चेनता का जागरण।
3. त्याग की चेतना का जागरण।
4. अर्जन के साथ विसर्जन की चेतना का जागरण।

उपरोक्त बिन्दुओं की क्रियान्विती में मनुष्य की कुछ वृत्तियाँ बाधक बनती हैं, जैसे– 1. लोभ, 2. भय, 3. वैर-विरोध, 4. क्रोध, 5. अहंकार, 6. क्रूरता, 7. सहिष्णुता, 8. निरपेक्ष चिन्तन, 9. निरपेक्ष व्यवहार।

इन प्रवृत्तियों के परिष्कार हेतु प्रशिक्षण आवश्यक है, जो कि इस प्रकार है–

प्रवृत्ति	परिणाम	परिष्कार हेतु प्रशिक्षण
1. लोभ	अधिकार की मनोवृत्ति	शरीर और पदार्थ के प्रति अमूर्च्छा भाव का प्रशिक्षण
2. भय	शस्त्र-निर्माण और शस्त्र का प्रयोग	अभय का प्रशिक्षण, शस्त्र-निर्माण और शस्त्र का व्यवसाय न करने की संकल्प-शक्ति का प्रशिक्षण
3. वैर-विरोध	प्रतिशोध की मनोवृत्ति	मैत्री का प्रशिक्षण प्रतिशोधात्मक मनोवृत्ति से बचने का प्रशिक्षण
4. क्रोध	कलहपूर्ण सामुदायिक जीवन	क्षमा का प्रशिक्षण
5. अहंकार	घृणा, जातिभेद के कारण छुआभूत रंगभेद जनित विद्वेष।	विनम्रता का प्रशिक्षण, अहिंसक प्रतिरोध का प्रशिक्षण, अन्याय के प्रति असहयोग का प्रशिक्षण
6. क्रूरता	शोषण, हत्या	करुणा का प्रशिक्षण
7. असहिष्णुता	साम्प्रदायिक झगड़ा	साम्प्रदायिक-सद्भाव का प्रशिक्षण, भिन्न विचारों को सहने का प्रशिक्षण
8. निरपेक्ष चिन्तन	आग्रहपूर्ण मनोवृत्ति, दूसरों के विचारों का मूल्य न देने की मनोवृत्ति	सापेक्ष चिन्तन का प्रशिक्षण
9. निरपेक्ष व्यवहार	सामुदायिक जीवन में पारस्परिक असहयोग की मनोवृत्ति	विधायक भाव का प्रशिक्षण

प्रवृत्ति परिष्कार प्रशिक्षण के साथ व्यवहार सुधार पर भी ध्यान देना अपेक्षित है। इसके बिन्दु इस प्रकार हैं–

1. विनिवेश में सामुदायिक प्राथमिकताओं का महत्त्व– निवेश उन वस्तुओं के उत्पादन में ज्यादा हो जिनका उपभोग आम व्यकित की आवश्यकताओं के अनुरूप हो। वैभव की वस्तुओं के उत्पादन में निवेश की अपेक्षा उन वस्तुओं के उत्पादन में निवेश बढ़ाना आवश्यक है, जिनका उपभोग आवश्यकता के दायरे में आ सके।

2. टेक्नोलोजी– आज के इस वैज्ञानिक युग में विकास की परिकल्पना का मुख्य आधार टेक्नोलोजी है। सन् 1978 में United Nations Inustrial Development Organization (UNIDO) की दिल्ली बैठक में उपयुक्त टेक्नोलोजी को परिभाषित करते हुए कहा गया 'टेक्नोलोजी वैसी हो जो उपलब्ध साधनों एवं परिस्थितियों के सन्दर्भ में आर्थिक, सामाजिक एवं पर्यावरण संबंधी उद्देश्यों की प्राप्ति में सर्वाधिक योगदान दे सके। इसके साथ-साथ सापेक्ष अर्थशास्त्र के अनुसार टेक्नोलोजी मानव केन्द्रित भी हो और पर्यावरण की सुरक्षा एवं पोषण पर भी आधारित हो। यह अपेक्षित है। सिर्फ अर्थ के विकास और उत्पादन की वृद्धि पर आधारित तकनीकी

विध्वंस की ओर ले जाने वाली ही होगी। वह आर्थिक, सामाजिक एवं पर्यावरण संबंधी उद्देश्यों की पूर्ति करने वाली एवं क्षेत्र की परिस्थितियों एवं साधनों पर आधारित होगी तभी उपयोगी हो सकेगी।

3. आज के भविष्य के समन्वय – आज और भावी पीढ़ियों के उपभोग अथवा आवश्यकतापूर्ति के लिए उपलब्ध संसाधनों में समन्वय इसकी मुख्य शर्त है। इसके लिए आवश्यक शर्त है पर्यावरण की सुरक्षा। प्राकृतिक संसाधनों का दोहन इस गति से नहीं होना चाहिए कि भावी पीढ़ियों को संसाधनों की कमी महसूस हो।

4. विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था का पोषण – केन्द्रीकरण, प्रदर्शन और विनाश की मानवीय प्रवृत्तियों पर अंकुश।

5. यांत्रिकीकरण एवं मानव श्रम का समन्वय – केवल मानव श्रम के उपयोग के कार्यों में वृद्धि न हो, श्रम का मूल्य भी उसकी आवश्यकता के अनुरूप हो। शोषण मुक्त समाज की अवधारणा में श्रम के उचित मूल्य का प्रमुख योगदान है। रोजगार के अवसरों को बढ़ाने के साथ-साथ श्रम के शोषण का भी अंत होना चाहिए।

इस प्रकार हम सापेक्ष अर्थशास्त्र के सिद्धान्त को क्रियान्विति की ओर ले जा सकते हैं। इससे स्वस्थ एवं शोषण मुक्त अहिंसक समाज की रचना का मार्गप्रशस्त हो सकता है।

प्रस्तुति – मुनि अक्षय प्रकाश

जैन विद्या कार्यशाला भाग–3
(निर्धारित पाठ्यक्रम)

2011 प्रथम संस्करण

कॉपीराईट – जैन विश्वभारती, लाडनूँ

प्रकाशक – समण संस्कृति संकाय
जैन विश्वभारती, लाडनूँ

अर्हम्

जैन विद्या विभिन्न विषयों से परिपूर्ण है। उसका प्रसार करने के लिए अनेक उपक्रम चलाये जा रहे हैं। उनमें एक है जैन विद्या कार्यशाला। वह एक रूपतया और समीचीनतया चल सके इसलिए कुछ सामग्री संकलित की गई है। प्रस्तुत सामग्री के आधार पर जैन विद्या कार्यशाला के प्रशिक्षकों एवं प्रशिक्षुओं को पुष्ट आधार मिल सकेगा, शुभाशंसा।

16–07–11 **आचार्य महाश्रमण**

महाप्रज्ञ भवन, केलवा

अनुक्रम

	विषय	पृष्ठ
1.	सृष्टि निर्माण : प्राचीन एवं आधुनिक सन्दर्भ	1-3
2.	तीन लोक का विस्तार	4-9
3.	अढाई द्वीप की परिक्रमा	10-11
4.	पांच इन्द्रियों के तेईस विषय	12-13
5.	आठ आत्मा : एक विवेचन	14-15
6.	देव, गुरु, धर्म	16-19
7.	पाँच चारित्र : एक विवेचन	20-21
8.	विकास का दिग्दर्शन : गुणस्थान	22-24
9.	अनेकांतवाद	25-26
10.	तेरापंथ विलक्षण क्यों ?	27-28
11.	मौलिकता रहे सुरक्षित : परिवर्तन सदा अपेक्षित	29-31
12.	तेरापंथ के वर्तमान अनुशास्ता आचार्यश्री महाश्रमण	32-34
13.	तेरापंथ और सापेक्ष अर्थशास्त्र	35-39